प्रवचन पाथेय ग्रन्थमाला, पुष्प—१४वां (१९५४)

# भोर भई

आचार्य तुलसी

अर्थ सौजन्य :—स्व० अजय जैन की स्मृति में सुपुत्र श्री पवन कुमार जैन, वाराणसी के आर्थिक सौजन्य से प्रकाशित।

तृतीय संशोधित/परिवर्धित संस्करण : मार्च, १९९८
वीर निर्वाण वर्ष २५२४

मूल्य : तीस रुपये/प्रकाशक : जैन विश्वभारती, लाडनूं, नागौर (राज०)
मुद्रक : मित्र परिषद्, कलकत्ता के आर्थिक सौजन्य से स्थापित जैन विश्वभारती प्रेस, लाडनूं-३४१ ३०६।

BHOR BHAI
Acharya Tulsi
Rs. 30 00

# प्रस्तुति

आचार्य प्रवचनकार होते है। इस दृष्टि से प्रवचन करना मैं अपना दायित्व समझता था। दायित्वबोध की प्रेरणा से मैं प्रवचन करता। श्रोता तन्मय होकर सुनते। श्रोताओ की रसानुभूति प्रवचनकार मे नया रस पैदा कर देती है। मेरे साथ भी यही घटित हुआ। प्रवचन करना मेरा काम था। पर उसके अधिग्रहण और प्रकाशन के बारे में न किसी का कोई चिन्तन था और न कोई व्यवस्था थी।

जैनविद्यामनीषी श्रावक श्रीचन्दजी रामपुरिया अध्ययनशील और सूझबूझ वाले व्यक्ति है। बहुत वर्ष पहले की बात है। रामपुरियाजी ने प्रवचन सुना और घर जाकर ज्यो-का-त्यो लिख लिया। उसे 'जैन भारती' मे प्रकाशित किया। मैंने पढ़ा तो लगा कि इनकी पकड़ सही है। यह क्रम लंबे समय तक चला। 'जैन भारती' में प्रकाशित प्रवचनो को संकलित करने की बात रामपुरियाजी के दिमाग की उपज है। इन्होने 'प्रवचन डायरी' के कई भागों में प्रवचन-संकलन प्रकाशित कर दिए।

उस समय हमारे संघ में बहुत अधिक साहित्य नही था। समाज मे साहित्य पढ़ने की रुचि जागृत होने लगी थी। 'प्रवचन डायरी' के प्रति पाठकों में अच्छा आकर्षण रहा। देखते-देखते सब भागो के संस्करण समाप्त हो गए। इधर संघ में साहित्य का प्रवाह चला। अन्यान्य साहित्य के साथ प्रवचन साहित्य भी व्यवस्थित रूप से संकलित होने लगा। इस काम मे अनेक साधु-साध्विया संलग्न हो गई। **प्रवचन पाथेय ग्रन्थमाला** के रूप में प्रवचन-संकलनो का व्यवस्थित सम्पादन हो रहा है। प्रस्तुत संकलन ग्रंथमाला का १४ वां पुष्प है।

'भोर भई' सन् १९५४, बम्बई-प्रवास मे हुए प्रवचनो का सकलन है। इसके प्रवचन मूलत· रामपुरियाजी द्वारा सम्पादित और प्रवचन डायरी मे प्रकाशित है। अब द्वितीय संस्करण मे वे प्रवचन नए नाम और नए परिवेश मे परिष्कृत रूप मे संकलित हुए है। इस काम मे मुनि धर्मरुचि ने बहुत श्रम किया है। यह उसकी रुचि का विषय है और इससे उसने बहुत कुछ पाया है। कोई भी काम हो विशेष लक्ष्य के साथ उसे सम्पादित किया जाए तो विशेष लाभ की सम्भावना को अस्वीकार नही किया सकता। अन्य साधु-साध्विया भी प्रवचन-संकलन या इस प्रकार के अन्य कार्यो मे लगन के साथ संपृक्त रहकर लाभान्वित हो सकते हैं।

प्रवचनों की भाषा सरल होती है। बीच-बीच में पद्य और कथानक भी आ जाते हैं। इनके कारण प्रतिपाद्य विषय सहजता से बोधगम्य हो जाता है। 'भोर भई' के पाठक स्वाध्याय ग्रंथ के रूप में इसका उपयोग करें। किसी भी पुस्तक के संकलन और सम्पादन की सार्थकता उसके उपयोग में ही है।

जैन विश्वभारती, लाडनूं
२१ जुलाई १९९२

**आचार्य तुलसी**

# भूमिका

मानव का यह स्वभाव है कि वह वन्धा हुआ, परतन्त्र और परमुखापेक्षी नही रहना चाहता। वह मुक्त, स्वतंत्र और स्वावलम्वी रहने के के लिए छटपटाता है। आजादी का सच्चा महत्त्व आंतरिक स्वतंत्रता और निर्वन्धता में है। आंतरिक स्वतन्त्रता के अभाव में मिली हुई वाह्य-स्वतन्त्रता जीवन की सर्वतोमुखी प्रगति की शर्त को कभी सफल नहीं वना सकती।

आज दुनिया भौतिकवाद के चक्के के नीचे पिस रही है। उसके सिर पर भूतवाद का भूत सवार हो रहा है। जीवन के मूल्य उसी के आधार पर आंके जाते हैं। यद्यपि भौतिकवाद के वल पर भौतिक-विकास को विकसित किया जा सकता है; उसके साहचर्य से भौतिक सुख-सुविधाओं की सृष्टि करने वाले प्रचुर साधन व सामग्रियां उपलव्ध की जा सकती हैं, मगर वास्तविक सुख और शांति, आत्मिक-तुष्टि और तृप्ति सत्य और अहिंसा, सादगी और सन्तोषमय आत्म-धर्म अर्थात् अध्यात्मवाद को आराधे विना त्रिकाल मे भी संभव नही हो सकती। अध्यात्मवाद मे सुख की कामना व्यक्तिविशेष के लिए नहीं होती। वहां संसारवर्ती प्राणिमात्र के लिए सम-दृष्टि एवं समभाव के दर्शन होते हैं :—

**समया सव्वभूएसु, सत्तु-मित्तेसु वा जगे।**

ये ही वे आदर्श हैं, जिनके रहस्यों तक पहुचकर मनुष्य भौतिकता के सघन अन्धकार के तहों को चीर कर आध्यात्मिकता के प्रकाश-पुंज की ओर वढ़ सकता है। ये ही वे आधार हैं, जिन पर मानव अपने सुखी जीवन के भव्य भवन का पुनर्निर्माण कर सकता है। वह दिन सत्यं, शिवं, सुन्दरम् होगा, जव मानव प्राणिमात्र के जीने का हक निरपवाद स्वीकार कर अपनी महान् उदारता और वास्तविक ईमानदारी का शंखनाद फूकेगा।

धर्म वही है, जो आत्म-शुद्धि, आत्म-शोधन व आत्म-परिमार्जन की ओर जन-जन को उन्मुख करे। जिस-किसी साधन से आत्म-शोधन हो, वह निर्विवाद रूप से धर्म के रूप मे सहर्ष अगीकार है।

आज संसार में त्याग का स्थान भोग ने अधिकृत कर लिया है। अत-र्मुखी दृष्टिकोण वहिर्मुखी दृष्टिकोण से अभिभूत है। सादगी और सरलता विलास और कुटिलता के आगे घुटने टेके हुई है। व्यक्ति की महत्ता का मूल्यांकन संयम व आचरणों के विपरीत प्रवृत्ति व वाहरी तड़क-भड़क के

आधार पर किया जाता है। अनुशासन की भूमिका उच्छृङ्खलता की क्रीड़ा-स्थली बनी हुई है। सदाचार की तस्वीर दुराचार की कलुषित गैस से धूमिल हो रही है। शील व सौजन्य का स्थान दुश्शील व दौर्जन्य ने ले लिया है। नीति व ईमनादारी पर अनीति व वेईमानी अपनी क्रूर दृष्टि किए बैठी है। सात्त्विक वृत्तियों को तामसिक वृत्तिया भृकुटी ताने निहार रही है।

भारतीय संस्कृति में त्याग, आत्म-विजय, आत्मानुशासन और प्रेम की अविरल धाराएं बही हैं। भोग से सुख नही मिला, तव त्याग आया। दूसरे जीते नही गये, तव अपनी विजय की ओर ध्यान खीचा। हुकूमत बुराइयां नही मिटा सकी, तव अपने पर अपनी हुकूमत का पाठ पढ़ाया गया। आग से आग नही बुझी, तव प्रेम से बुझाने की सूझी। ये वे सूझे हैं, जिनमे चैतन्य है, जीवन है और है दो को एक मे मिलाने की क्षमता।

वास्तव मे व्यक्ति-व्यक्ति में आत्म-श्रद्धा आये, वह चरित्रनिष्ठ वने, उसका जीवन सच्चाई, सादगी और नैतिकता से ओतप्रोत हो, यही एक उद्देश्य है, जिसे लक्षित कर इस योजना का प्रवर्तन हुआ है। जब तक व्यक्ति नही सुधरेगा, तब तक समाज और राष्ट्र-सुधार का नारा क्या अर्थ रखेगा? व्यक्ति ही समष्टि का मूल है। व्यक्तिगत सुधार की एक सामूहिक प्रतिक्रिया ही समाज-सुधार है। व्यक्ति सुधरेगा, तभी समाज व राज्य मे एक नयी चेतना आयेगी और समाज का धूमिल वातावरण शुभ्र वनेगा।

धर्म और राष्ट्र के पारस्परिक सम्वन्ध पर विवेचना करते हुए आचार्यश्री ने कहा है—राष्ट्र के आत्म-निर्माण का जहां सवाल है, वहा धर्म का राष्ट्र से गहरा सम्वन्ध है। मानव-समाज के अतिरिक्त राष्ट्र की दूसरी आत्मा सम्भव ही नही। मानव-समाज व्यक्तियो का समूह है और व्यक्ति-निर्माण धर्म का अमर व अमिट नारा है ही। इस दृष्टि से राष्ट्र-निर्माण का धर्म से सीधा सम्बन्ध है। धर्म-रहित राष्ट्र, राष्ट्र नही, अपितु प्राणशून्य कलेवर के समान है। राष्ट्र की आत्मा तभी स्वस्थ, मजवूत और प्रसन्न रह सकती है, जबकि धर्म के तत्त्व उसमे घुले-मिले हो

राष्ट्र-निर्माण में धर्म कहां तक सहायक हो सकता है, इसके लिए धर्म कुछ सूत्रों का प्रतिपादन करता है। वे है - आत्म-स्वतन्त्रता, आत्म-विजय, अदीन-भाव, आत्म-विकास और आत्म-नियन्त्रण। इन सूत्रो का जितना विकास होगा, उतना ही राष्ट्र स्वस्थ, उन्नत और विकसित वनेगा।

जन-जीवन पर आचार्यश्री का मन्तव्य है—आज देश आजाद है, फिर भी यही सुनने मे आता है कि जनता का जीवन गिरता जा रहा है। इसका कारण यही है कि आज परदोषदर्शिता अधिक वढ़ गई है। जहां किसी

में थोड़ा-सा दोप देखा कि हर कोई व्यक्ति उसे इस तरह से देखता है मानो वह हजारो आंखो से देख रहा हो। पर जहां अपने दोपों को देखने का सवाल आता है, वह आखे मूद लेता है। आज औरो की नुक्ताचीनी और काट-छांट करने की आवश्यकता नही है। आवश्यकता है यह देखने की कि मैं क्या कर रहा हूं। हर एक व्यक्ति यह विचारे कि मेरा जीवन कल जहा था, वही है, या कुछ उठा है अथवा गिरा है ? यदि जीवन मे अहिसा और सत्य जैसे तत्त्व आ गये तो फिर चारो ओर प्रेम ही प्रेम और वन्धुता ही वन्धुता का वातावरण खिल उठेगा और उसके सामने मनुष्य-मनुष्य के भेद-भाव तिरोहित हो जायेंगे, समानता प्रमुख हो जायेगी।

धर्म विश्व-मैत्री की भव्य भित्ति पर स्थित है। वह अपने वन्धुओ, मित्रो और पडोसियों के साथ ही प्रेम करना नही सिखाता, वल्कि प्राणिमात्र के प्रति विशुद्ध प्रेम करना सिखाता है। वह सत्य-अहिसा के मजवूत खंभो पर टिका आलीशान महल, जिसका द्वार प्राणिमात्र के लिए खुला है, जिसमे जाति-पाति, लिंग, रंग, वर्ग और वर्ण का भेद नही, जिसका पूजी के साथ गठवन्धन नही, ऐसा धर्म जिसमे विशालता है, सहिष्णुता है उसे फिर जैन कहें, सनातन कहे, चाहे जो कहे, वह सवके लिये कल्याणकारी है। ऐसे धर्म को आप जीवन मे उतारें।

आज के लोग धर्मस्थान मे तो धार्मिक वन जाते हैं और वाहर जाकर न जाने वे क्या से क्या हो जाते हैं ? धर्मस्थान मे वे जितना धार्मिक खयाल रखते हैं, वैसा ही खयाल वे हर समय रखे तो धर्म उनके आचारण मे आयेगा। उससे उन्हे शाति मिलेगी, सुख मिलेगा—ऐसी आचार्यश्री की दृष्टि है।

आर्थिक वैषम्य पर प्रकाश डालते हुए आचार्यश्री ने कहा—आज का जन-मानस आर्थिक वैषम्य को सहन नही करता। अमीर और गरीव, पूजीपति और मजदूर, इस प्रकार की भिन्न-भिन्न श्रेणियो को मिटाकर सवको एक श्रेणी मे आवद्ध करने के लिये आज क्या आंदोलन नही चल रहे हैं ? इस समस्या का चिरस्थायी हल अपरिग्रह के सिवाय दूसरा कुछ नही। अपरिग्रह त्याग का प्रतीक है। अपरिग्रह की भावना का विस्तार होने से त्याग की शक्ति को वल मिलेगा और तव, अर्थाधिपतियो की अपेक्षा त्यागियों का महत्त्व वढ़ेगा। त्याग उनका केन्द्र-विन्दु वनेगा। अर्थ की लालसा के वादल छिन्न-भिन्न होते नजर आयेगे। न कोई शोषक रहेगा और किसी न का शोषण होगा।

आज जहा अर्थ-समीकरण की अन्य प्रक्रियाओ मे हिंसा, क्रूरता, छीना-झपटी, खून-खरावी, आतंक इत्यादि के उन्नयन और फैलाव की पूरी-पूरी सम्भावनाए वनी रहती हैं, वहा इस अध्यात्ममूलक प्रक्रिया मे इन सबकी

कोई सम्भावना नहीं। प्रत्युत उसमे तो सद्भावना, नियन्त्रण, निर्भयता, अहिंसा, शांति, सन्तोष आदि के विकास और प्रसार के आसार भरे रहते हैं।

हिंसा और अहिंसा पर तुलनात्मक गवेषणा प्रस्तुत करते हुए आचार्यश्री ने कहा—मुझे हिंसा में तिल भर भी विश्वास नहीं। हिंसा के द्वारा बलात् मनुष्य को वश मे कर उसकी गति को मोड़ा जाता है। वहां हृदय-परिवर्तन का इतना खयाल नहीं रखा जाता। हृदय-परिवर्तन के अभाव मे बलात् हुआ कोई कार्य चिरस्थायी हो सके, ऐसा बहुत कम संभव है। यही आकर अहिंसा की विशेषताओं का अनुभव होता है। वह किसी भी स्थिति में बलात् की उपादेयता को स्वीकार नही करती। वह मनुष्य के हृदय का परिवर्तन करती है। हिंसा आग बरसाती है और अहिंसा शीतल जल; हिंसा वैर-विरोध का उन्नयन करती है और अहिंसा प्रेम, वात्सल्य तथा सौहार्द्र का। मेरा दृढ़ विश्वास है कि मानव को जब मानव बनना होगा, तो उसको अहिंसा तथा त्याग का आश्रय लेना ही होगा।

इसी प्रकार त्याग और भोग की मीमांसा के रूप मे उन्होंने बताया है—त्याग और भोग जीवन के दो पहलू होते हैं। मुख्य पक्ष त्याग है, भोग गौण और नगण्य है। त्याग को मुख्यता और भोग को तिलाञ्जलि देने से ही व्यक्ति, समाज और राज्य की समस्त व्यवस्थाएं सुन्दर रूप से संचालित हो सकती हैं। त्याग की परम्परा अक्षुण्ण रहने से ही जीवन की विषम व गहन खाइयों को पाटा जा सकता है।

अहिंसा की परिभाषा को अधिक सरल और स्पष्ट करते हुए आचार्यश्री ने बताया है—अहिंसा का प्रश्न मानव की स्व-वृत्तियों से संबंधित है, किसी के मरने-जीने से नहीं। जैन-आगमों मे विवेचना मिलती है—साधु चलता है, मार्ग मे कोई भी जीव मरा नही, फिर भी वह हिंसक है, अगर चलने में असावधानी करता है, क्योकि असावधानी प्रमाद है और प्रमाद हिंसा है। ठीक इसके विपरीत वृत्ति मे विशुद्धि और निर्मलता हो, किसी के प्रति शत्रुभाव न हो, सबके प्रति आत्म-सयम और समता हो, सावधानी और अप्रमाद हो, तो किसी के प्राण-वियोजन होने पर भी साधु को उसे हिंसा-दोष नही लगता।

अहिंसा जीवन-तत्त्व है, ज्ञान की सार्थकता है। अहिंसा के इस महान् गूढ़ार्थ को प्रकट करते हुए भगवान् महावीर ने कहा—

**एयं खु नाणिणो सारं, जं न हिंसइ किंचण।**
**अहिंसा समयं चेव, एयावन्तं वियाणिया॥**

अर्थात् ज्ञानी के ज्ञान का सार इसी में है कि वह किसी की हिंसा न करे। वह अहिंसा और समता को समझकर उनमें पूर्ण निष्ठावान् बने।

अहिंसा और समता ज्ञान के सार हैं। जिसने दोनों को जान लिया उसने समूचे ज्ञान-विज्ञान को हस्तगत कर लिया।

अहिंसा वह सारपूर्ण वस्तु है, जिससे थके-मादे व क्षत-विक्षत जगत को त्राण मिलेगा। एक नयी राह मिलेगी और एक नयी सफलता के दर्शन होंगे।

आज मनुष्य-जाति में हिंसात्मक वृत्तियो की जो वृद्धि हो रही है उस पर घोर चिंता एव दुःख प्रगट करते हुए आचार्यश्री ने कहा—भलाई और बुराई का विवेक होना मनुष्य के लिये अत्यन्त आवश्यक है। उसको जाने विना भलाई का ग्रहण और बुराई का परिहार कैसे हो सकता है ? भलाई और बुराई ये दोनो संसार मे अनादिकाल से चलती आ रही हैं; ये मनुष्य की अन्तर्वृत्तियो मे छिपी रहती हैं। जब-जब संसार मे भलाई का ह्रास और बुराई का विकास होता है, तव-तव संसार मे दुःख, दैन्य व विपत्तियो का नृशंस आक्रमण होता है। आज मनुष्य की हिंसा-प्रधान वृत्तियां बुराई के उत्थानकाल की सूचक है। बुराइया आज जन-जीवन में इस प्रकार घर कर गई हैं कि आज उनको पहचान कर जीवन से उन्हे दूर करना दुःसाध्य-सा हो रहा है। बुराइयो के कारण मनुष्य खोखला हो रहा है। वह पनप नही रहा है। अच्छाइयो से उसने आखे मोड़ ली हैं। यह स्थिति भयानक है। यह दौर अगर ऐसा ही चलता गया तो वह दिन दूर नही, जब मानवता और दानवता के वीच कोई भेद-भाव नही रह जाएगा। अतएव समय रहते मनुष्य सचेत होकर इस दुर्निवार स्थिति के प्रतिकार के लिए सक्रिय उद्योग करे।

आज के युग की जलती हुई समस्याओ और हिंसा के प्रवल वातावरण की चुनौती को देखते हुए धार्मिक सम्प्रदायो का यह कर्तव्य होना चाहिए था कि वे अहिंसा के सार्वजनिक मंच पर संगठित होकर युग की चुनौती के विरुद्ध एक प्रतिरोधात्मक मोर्चा स्थापित करे। मगर आज इसके विपरीत कार्य हो रहा है।

धार्मिको का कहां तो यह पवित्र उद्देश्य कि वे विश्व-वन्धुता और विश्व-मैत्री का अधिक-से-अधिक प्रचार व प्रसार करेंगे और कहां आज की स्थिति कि वे परस्पर लड़-झगड़ कर अपनी शक्ति को विनष्ट कर रहे हैं। सांप्रदायिकता का भूत एक ऐसा ही भूत है, जो कि मनुष्य को संकीर्णता की सीमा के बाहर झांकने नहीं देता। इतना ही नहीं, वह मनुष्य को ऐसे षड्यंत्र रचने की ओर प्रेरित करता है, जो उन धार्मिक कहलानेवाले व्यक्तियो के लिए कलंक का टीका है। एक धार्मिक संप्रदाय इतर धार्मिक संप्रदाय से साथ अमानवीय व्यवहार करता है, एक दूसरे पर आक्षेप व छीटाकशी करता है, एक के विचारो का विकृत रूप वनाकर लोगो को भड़काने व वहकाने के

लिए प्रचार करता है तो यह अपने-आपके साथ धोखा है, अपनी कमजोरी का प्रदर्शन है, अपने दुष्कृत्यो का रहस्योद्‌घाटन है और अपनी संकीर्ण भावना व तुच्छ मनोवृत्ति का परिचायक है। अगर कोई धार्मिक सम्प्रदाय दूसरे धार्मिक सप्रदाय को गिराने का प्रयास करता है तो यह उसकी अनधिकार चेष्टा व अहिंसा के प्रति अनुत्तरदायी होने का द्योतक है।

आज समस्याये तो अनेक हैं। कहना तो यो चाहिए कि यह समस्याओ का ही युग है। इनका समाधान भी आपको ही करना होगा, इसमे कोई शक नही। प्रश्न यह है—समस्याओ का समाधान कैसे करे? मार्ग दो हैं—भ्रष्टाचार (अनीति) का और दूसरा संयम का। सयम से होनेवाला समाधान दीखने मे कठिन, परन्तु आत्मानुभव में सुगम और मीठा होता है। भ्रष्टाचार से होनेवाला समाधान पहले सुगम और पीछे कठिन है। स्थूल दृष्टि से देखें तो व्यक्ति को दोनों ओर विपमता मिलेगी, क्योकि एक मे पहले सुख तो वाद मे दुःख और दूसरे मे पहले दु.ख तो वाद मे सुख। इस तरह दोनो मे समान-भाव दृष्टिगोचर होता है। मगर सूक्ष्म दृष्टि से देखे तो परिणाम मे वड़ा भारी अन्तर आयेगा। एक मे सुख मर्यादित है—यह भी क्षणिक और भौतिक और दूसरे मे असीम सुखानुभूति। इस तरह दो साधन हमारे सामने आए। उसी तरह सुख के दो मार्ग हैं—आध्यात्मिक और भौतिक। अध्यात्मवाद हमे समस्याओ का हल इस प्रकार देता है—एक आवश्यकता की पूर्ति से दो और आवश्यकताओ का जन्म होता है। क्योकि आवश्यकताओं की सीमा नही है, अत. ज्यो-ज्यो लाभ वढ़ेगा, त्यो-त्यो लोभ भी वढ़ेगा। लाभ से लोभ का परिवर्धन होता और लोभ दु.ख का कारण है। इसलिए आवश्यकताओ को घटाओ, उससे लोभ पर नियन्त्रण आयेगा, सुख की वृद्धि होगी।

आज का सघर्ष अभाव और अतिभाव का संघर्ष है। दोनो से वचकर चलने का मार्ग समभाव है। राजनीति की दृष्टि उत्पादन, वितरण और विनिमय पर वैयक्तिक प्रभुत्व को हटाकर समभाव को पालित करना चाहती है। इसलिए उसके अनुसार समभाव सामूहिक सम्पत्ति पर आधारित है। संयम की दृष्टि उससे भिन्न है। वह समभाव को आत्मनिष्ठ मानती है। व्यक्ति-व्यक्ति मे समभाव आए—प्राणिमात्र को आत्मतुल्य समझने की भावना प्रवल वने। एक दूसरे का शोपण इसलिए करता है कि उसकी भोगवृत्ति चलती चले और अत्यधिक समता की भावना जव तक नही जागती, तव तक वह ऐसा करता रहता है। व्रत के दर्शन मे रोग का कारण भोगवृत्ति है पदार्थ और संग्रह नही।

जीवन की दिशा वदलने के लिए आचार्यश्री ने जिस मूलमंत्र पर वल दिया है, वह है—**'संयमः खलु जीवनम्।'** जीवन के क्षणो मे शाति आए,

इसके लिए यह नितांत आवश्यक है।

आशा है, प्रस्तुत प्रवचन-डायरी, १९५४ मे संग्रहीत आचार्यश्री के प्रवचनो के अध्ययन एवं मनन से मानव-समाज को एक नया दिशा-संकेत मिलेगा।

१५, नूरमल लोहिया लेन,
कलकत्ता
१ जून, १९६०

**श्रीचंद रामपुरिया**

## द्वितीय संस्करण

परम श्रद्धेय युगप्रधान आचार्यश्री तुलसी के सन् १९५४ मे बम्बई-प्रवास के समय दिए गए प्रवचनों का यह द्वितीय संस्करण है। प्रथम संस्करण मे छूटे हुए कुछ-कुछ अंश, जो बाद मे प्राप्त हुए सम्मिलित कर दिये गये हैं। मुनिश्री धर्मरुचिजी ने अति परिश्रमपूर्वक आद्योपांत अवलोकन कर प्रथम सस्करण मे रही हुई त्रुटियों को दूर कर दिया है। परिशिष्ट रूप में प्रवचनो के प्रमुख विषयों की अकारादि क्रम से सूची के साथ-साथ प्रसंगवश आए हुए नामो की सूची भी जोड़ दी है। इससे पुस्तक की उपयोगिता निश्चित रूप से बहुत अधिक बढ़ गई है।

जैन विश्वभारती, लाडनूं
१५ अगस्त १९९२

**श्रीचंद रामपुरिया**

## तृतीय संस्करण

परम श्रद्धास्पद प्रातःस्मरणीय स्वर्गारूढ गणाधिपति गुरुदेव तुलसी की यह चिरंजीव वाणी पाठकों के लिए अमृत घूंट सिद्ध होगी।

जैन विश्वभारती संस्थान
लाडनूं (राज०)
चैत्र वदी ३, वि०सं० २०५४

**श्रीचंद रामपुरिया**

# प्रकाशकीय

आचार्यश्री तुलसी एक प्रखर प्रवचनकार एव सटीक व्याख्याकार है। वे अध्यात्म के गूढ़तम विषयों को अपनी वाणी मे इतना सरल व सग्राह्य रूप में प्रस्तुत करते हैं कि श्रोताओ को तद्-विषयक चिन्तन-मनन के लिए वाध्य कर देते है, जिससे उनके व्यक्तित्व-विकास का मार्ग प्रशस्त हो जाता है।

इस अमृत-वाणी के संकलित प्रकाश का यह १४ वां क्रम 'भोर भई' पाठकों के सम्मुख नए परिवेश एव नए प्रकार में प्रस्तुत है। आशा है, पाठकवृन्द इस सत्साहित्य के अध्ययन द्वारा अपना बहुआयामी विकास करने की क्षमता अर्जन कर सकेंगे।

मुनिश्री धर्मरुचिजी ने इस साहित्य-शृंखला के नियोजन मे श्रम एवं कार्यनिष्ठा का जो परिचय दिया है, वह स्तुत्य है, तदर्थ आभार प्रस्तुत है।

जैन विश्वभारती, लाडनूं (राज०)
दिनांक २४ अगस्त १९९२

**श्रीचंद बैंगानी**
मंत्री
जैन विश्वभारती, लाडनूं

# अनुक्रम

## परिशिष्ट

# १. मनुष्य-जीवन की सार्थकता

इस संसार मे एक-से-एक अधिक आश्चर्यजनक एवं दुर्लभ वस्तुएं हैं। पर मनुष्य-जीवन जितनी आश्चर्यजनक और दुर्लभ वस्तु कोई भी नही है। ऐसा क्यो ? ऐसा इसलिए कि मनुष्य संसार के समस्त आश्चर्यो का केन्द्र है, जनक है। अन्यान्य सभी वस्तुओ का निर्माण वह अपनी प्रतिभा से कर सकता है, पर मनुष्य-जीवन पाना उसकी प्रतिभा के वश की वात नही है।

## मनुष्य का महत्त्व क्यों ?

प्रश्न पूछा जा सकता है, मनुष्य मे ऐसी कौन-सी सम्पन्नता है कि जिसके कारण उसे असाधारण माना गया है, इतना महत्त्व दिया गया है ? इसका उत्तर वहुत स्पष्ट है। मनुष्य-जीवन वह भित्ति है, जिसके सुदृढ़ आधार पर आत्मा अपने चरम लक्ष्य—परमात्म-पद को उपलब्ध हो सकती है, अपना सर्वोच्च अभ्युदय कर सकती है। यह अलग वात है कि मनुष्य-भव के ऐसे स्वर्णिम/दुर्लभ अवसर को पाकर भी संसार के वहुलाश मनुष्य अनादि अज्ञान-अंधकार मे पड़े रहते हैं, पतन के मार्ग को अपनाकर इसे वहुत सस्ते मे हार जाते हैं, वर्वाद कर देते हैं। आचार्य सोमप्रभ ने अपने 'सिन्दूरप्रकर' ग्रन्थ मे लिखा है—

> **स्वर्णस्थाले क्षिपति स रजः पादशौचं विधत्ते,**
> **पीयूषेण प्रवरकरिणं वाहयत्येधभारम्।**
> **चिन्तारत्नं विकिरति कराद्वायसोड्डायनार्थं,**
> **यो दुष्प्रापं गमयति मुधा मर्त्यजन्म प्रमत्तः॥**

जो व्यक्ति दुष्प्राप्त मनुष्य-जीवन को व्यर्थ गंवा देता है, वह ज्ञानीजनो की दृष्टि मे वैसा ही नासमझ है, जैसा नासमझ स्वर्णथाल को धूल फेकने के काम लेनेवाला, अमृत को पैर धोने के काम लेनेवाला, उत्तम हाथी को लकड़ियो को ढोने के काम लेनेवाला तथा चिंतामणिरत्न को कौआ उडाने के लिए फेंकनेवाला होता है।

सचमुच इस प्रकार इस मनुष्य-जीवन को गवानेवालो के लिए अनु-ताप के सिवाय शेप कुछ भी नही वचता। व्यक्ति का विवेक और हित इसी में सुरक्षित है कि वह मनुष्य-जीवन की दुर्लभता और विशिष्टता को

समझकर उसके एक-एक क्षण को सफल बनाए।

## मनुष्य-जीवन की सफलता की कड़ियां

प्रश्न हो सकता है कि मनुष्य-जीवन की सफलता के लिए क्या करना चाहिए? यो तो इस प्रश्न के उत्तर मे अनेक बातें बताई जा सकती हैं, पर संक्षेप में कहा जाए तो सन्तो की संगत तथा सम्यग् ज्ञान का आचरण—ये दो बातें महत्त्वपूर्ण है।

## सन्तजन त्याग के प्रतीक होते हैं

सन्त-जन संयम और त्याग के प्रतीक होते हैं, प्रेरणा होते हैं। उनके जीवन के क्षण-क्षण से व्यक्ति संयम और त्याग की प्रबल प्रेरणा प्राप्त कर सकता है। पर संयम और त्याग के प्रतीक और प्रेरणा वे ही साधु-संत हो सकते हैं, जिनका स्वयं का जीवन संयममय हो, त्यागमय हो। जो इस गुण से विपन्न होते हैं, वे संयम और त्याग के प्रतीक नही हो सकते, प्रेरणा नहीं बन सकते। मैं यह बात इसलिए कह रहा हूं कि इस दुनिया में इस पवित्र बाने को बदनाम करनेवाले लोगो की कमी नहीं है। वे इस बाने का दुरुपयोग कर अपने तुच्छ स्वार्थों को पोषते है, ठगाई चलाते हैं। ऐसे नाम-धारी साधु-संत न तो स्वयं का ही हित साधते है और न दूसरो का ही। वे न तो स्वयं को ही बंधन-मुक्त बना सकते हैं और न सांसारिक प्राणियो को ही।

## ज्ञान नहीं हुआ

राजा ने सुना कि भगवान की कथा सुनने से आत्मज्ञान हो जाता है। उसका मन भी आत्मज्ञान के लिए लालायित हुआ। उसने किसी व्यासजी को कथा सुनाने के लिए बुलाया। व्यासजी ने पूरे एक सप्ताह तक कथा सुनाई। कथा सम्पूर्ण होते ही उन्होने राजा को सूचित किया। सूचना मिलते ही राजा ने आश्चर्य की शब्दावली मे कहा—"क्या कहा, कथा पूरी हो गई! यह कैसे! मुझे अभी तक कुछ ज्ञान तो हुआ ही नही।"

व्यासजी ने कहा—"ज्ञान होने या न होने की जिम्मेवारी मेरी नही है। मेरा काम कथा सुनाने का था। वह मैंने सुना दी। अब आपको ज्ञान नही हुआ तो उसका कारण बहुत स्पष्ट है—आपने कथा ध्यानपूर्वक सुनी नही है। आपका ध्यान राज्य की माया मे उलझा हुआ था।"

राजा ने व्यासजी का प्रतिवाद करते हुए कहा—"व्यासजी! ऐसा कहना सरासर मिथ्या है। मैंने पूरे मनोयोगपूर्वक कथा सुनी है। लगता ऐसा है, आपने कथा पूरी सुनाई नही है। फिर ज्ञान कैसे हो।"

यो दोनो एक-दूसरे पर आरोप-प्रत्यारोप लगाने लगे। और

धीरे-धीरे यह स्थिति झगडे मे वदल गई। संयोगवश तभी अकस्मात् नारदजी का वहां आगमन हो गया। उन्होंने सारी स्थिति का अध्ययन किया। अध्ययन के साथ ही उनके मन में विचार आया कि इन्हे युक्तिपूर्वक समझाना चाहिए। वस, उन्होंने राजा तथा व्यासजी के हाथों को रस्सी से वांध दिया तथा पैरों मे लकडी फंसाकर दोनो को अलग-अलग गाड़ दिया। फिर दोनो से परस्पर एक-दूसरे को वधन-मुक्त करने के लिए कहा। दोनों ने कहा—"नारदजी महाराज! आप भी कैसी वात कर रहे हैं! हम तो खुद वंधे हुए हैं। ऐसी स्थिति में परस्पर एक-दूसरे को कैसे खोल सकते हैं?" नारदजी ने राजा की ओर अभिमुख होते हुए पूछा—"राजन्! तत्त्व समझे या नही?" राजा वोला—"महाराज! मैं तो कुछ भी नही समझा।" नारदजी ने कहा—"तो सुनो, मैं समझता हूं तुम्हें। देखो, जो खुद वंधा हुआ है, उससे निर्वन्ध वनने की आशा करना कहां तक उचित है। कहां की समझदारी है। ये व्यासजी तो स्वयं सांसारिक मोह-वंधनो से वंधे हैं, माया में फंसे हैं। शास्त्र सुनाना इनका व्यवसाय है, न कि स्वाध्याय। ऐसी हालत मे इनके पास आत्म-ज्ञान देने को है ही कहां। तुमने इनसे आत्म-ज्ञान प्राप्त करने की अपेक्षा की, यही भूल है।" विना रुके ही राजा को वंधन-मुक्त करते हुए वोले—

"वंध्या स्यूं वंध्या मिले, त्यां स्यूं कछुय न होय।
कर संगत निर्वन्ध की, छिन में छोड़े तोय॥"

## साधु की प्रतिष्ठा को धक्का

वन्धुओ! यह एक पौराणिक कथा है। सारांश इतना ही है कि मानव-जीवन की सफलता के लिए त्यागी व निर्लोभी संतो की संगत ही अभीष्ट एवं उपयोगी है। यो देश में आज संत नाम धराने वालों की कोई कमी नहीं है। कमी है त्याग की, निर्लोभता की, सच्ची साधना की। सचमुच भोगी, लोभी और दुर्व्यसनी लोगो ने साधु की प्रतिष्ठा को वहुत धक्का पहुचाया है; साधु-सतों के प्रति जन-विश्वास को खडित किया है। यही कारण है कि लोगो के मानस साधु-संतो के प्रति सशकित वने रहते हैं। इस स्थिति मे सौभाग्य से कोई सच्चा साधु मिल भी जाता है तो यकायक उस पर विश्वास नही किया जाता। दूध का जला छाछ को फूंक-फूंक कर जो पीता है।

## सच्चा साधु कौन?

प्रश्न होगा, सच्चे त्यागी साधु की पहचान क्या है? पहचान तो वहुत स्पष्ट है। कंचन और कामिनी के त्यागी ही सच्चे त्यागी साधु हैं। सच्चे त्यागी साधु न तो गृहस्थी के प्रपंचों मे पड़ते हैं और न ही राजनीति

में अपना समय बर्बाद करते हैं। न तो वे पूंजीपतियों के पिछलग्गू ही होते है और न ही पूजी मानी जानेवाली किसी भी वस्तु से अपना गठबधन जोडते हैं। उनका तो मात्र एक ही काम है—आत्म-कल्याण करना तथा निःस्वार्थ-भाव से जन-मगल और जन-कल्याण के लिए अपनी सेवाएं समर्पित करना। उनकी हर प्रवृत्ति और हर सदेश, हर जाति, हर वर्ग और हर समाज के लिए हितकर होता है, उद्धारक होता है।

## साधु-संगत की उपलब्धि

जैसा कि मैंने प्रारम्भ में कहा, सच्चे साधु संयम के प्रतीक और प्रेरणा होते हैं। वे स्वयं आत्म-नियंत्रण का जीवन जीते हैं और जन-जन को यही बोध-पाठ देते है। वे स्वयं अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह की परिपूर्ण आराधना करते है और जन-जन को इनकी यथाशक्य पालना का उपदेश देते हैं। समता उनके जीवन का मूलमंत्र होता है और इस साधना को जन-जनव्यापी बनाने के लिए वे सदैव चेष्टारत रहते है। शांति उनके जीवन की सबसे बडी उपलब्धि होती है और उसके सौरभ से वे जन-जन के जीवन को महकाना चाहते है। निस्सदेह, ऐसे साधुओं की सगत जीवन के लिए वरदान होती है, सौभाग्य को जगानेवाली होती है। इसके माध्यम से व्यक्ति अपने अभिशप्त जीवन से मुक्ति प्राप्त कर सकता है, कायापलट कर सकता है सुख की धार बहा सकता है। इतना ही नही, एक नए नैतिक युग के निर्माण में अपनी मजबूत आधारशिला रखकर दुनिया के सामने एक अनुकरणीय उदाहरण उपस्थित कर सकता है।

## आदर्श और उपदेश जीवन में ढलें

प्रथम तो सच्चे त्यागी संतो का सुयोग मुश्किल से मिलता है। दूसरे में मिलने पर उनका जितना लाभ उठाया जाना चाहिए, उतना लाभ नही उठाया जाता। उनके जीवन से यथेष्ट प्रेरणा ग्रहण नही की जाती। साधु-संतों को देखना और सुनना लगभग देखने और सुनने तक ही सीमित रह जाता है। जीवन के व्यवहार और आचरण मे नही ढलता। सीधे शब्दों में कहूं तो वह करने की भूमिका मे नही आता। और यह एक सर्वमान्य तथ्य है कि अच्छे-से-अच्छा तत्त्व भी जब तक क्रियात्मक रूप ग्रहण नहीं करता, तब तक उसका यथेष्ट लाभ व्यक्ति को प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिए यह अत्यत अपेक्षित है कि व्यक्ति साधु-संतो के जीवन में चरितार्थ जीवनविकासी तत्त्वो को स्वयं के जीवन में उतारे। वे जो उपदेश दें, उसके अनुसार आचरण करे। हालांकि साधु-संतों की सारी बाते हर व्यक्ति पूर्ण रूप से जीवन में नहीं उतार सकता। पर एक सीमा तक तो उतारे। यदि आंशिक रूप मे भी उनकी बाते व्यक्ति के जीवन में क्रियात्मक रूप

ग्रहण करती हैं तो भी उसके लिए वहुत लाभप्रद और हितप्रद स्थिति वनती है। हम देखते हैं, वीज वहुत छोटा होता है। पर अनुकूल परिस्थितियां पाकर वही एक दिन विशाल वट वृक्ष का रूप भी ग्रहण कर लेता है। इसी तरह आंशिक रूप मे अपनाई गई साधु-सतों की आदर्श वातें और शिक्षाएं भी अनुकूल परिस्थितियो के वीच फलती-फूलती एक दिन व्यापक रूप मे लहलहा उठती हैं। मैं मानता हूं, ऐसा होने से निश्चित ही मनुष्य-जीवन का सही-सही मूल्यांकन हो सकेगा। प्राणी-प्राणी की चाह—सुख और शांति का मार्ग, निर्वाध वन सकेगा।

## हंस-मनीषा जागे

मनुष्य-जीवन की सार्थकता के लिए यह अत्यन्त अपेक्षित है कि व्यक्ति मे हेय और उपादेय का विवेक जागे। जव तक यह हंस-मनीषा जागृत नही होती है, तव तक व्यक्ति कैसे तो अच्छाई का संग्रहण कर सकेगा और कैसे वुराई का परिहार। वैसे अच्छाई और वुराई दोनो की सत्ता हर युग मे किसी-न-किसी रूप मे रहती ही है। हा, किसी युग में वुराई का पलड़ा भारी होता है तो किसी युग मे अच्छाई का। जव-जव वुराई का पलड़ा भारी होता है, तव-तव संसार मे दुःख, दैन्य और विपत्तियो का नृशस आक्रमण होता है। आज संसार की क्या स्थिति है, यह आपसे छुपा नही है। हिंसा का नग्न तांडव हो रहा है। झूठ, कपट, चोरी, दुराचार...... का साम्राज्य-सा छा रहा है। यह इस वात की सूचना है कि वुराई का पलड़ा भारी हो रहा है और अच्छाई का पलड़ा हलका। यदि यह दौर यो ही चलता रहा तो वह दिन दूर नहीं, जव मानवता और दानवता के वीच भेद-रेखा भी समाप्त हो जाए, मानव मानव के रूप में अपनी प्रतिष्ठा खो दे। यह स्थिति निश्चित ही वांछनीय नही है। कोई थोड़ा भी समझदार और मानवीय प्रतिष्ठा की गरिमा को समझनेवाला व्यक्ति इस स्थिति को आने देना नही चाहेगा। पर चाहने मात्र से तो काम नही वन सकता। इसके लिए तो सही दिशा में कदम उठाने की जरूरत है। हेय और उपादेय के विवेक की वात मैंने इसी परिप्रेक्ष्य में कही थी। इस विवेक के जागने के पश्चात् व्यक्ति अच्छाइयों का सग्रहण करता चला जाता है और वुराइयो का विसर्जन। इस क्रम से धीरे-धीरे अच्छाइयो का पलड़ा भारी हो जाता है और वुराइयो का हलका। इसलिए यह अत्यन्त अपेक्षित है कि व्यक्ति अपनी हस-मनीषा को जगाए। इसके अतिरिक्त मानवीय प्रतिष्ठा को वचाने का कोई विकल्प नही है।

## अच्छाई के संग्रहण में संकीर्णता क्यों ?

अच्छाइयों के संग्रहण का जहां प्रश्न है, वहां व्यक्ति को अत्यन्त

उदार रहना चाहिए। अर्थात् अच्छाई किसी के भी पास क्यो न हो, उसे ग्रहण करने मे संकोच/परहेज नही होना चाहिए। पर दुर्भाग्य से आजकल लोगों में इस संदर्भ मे संकीर्ण मनोवृत्ति पनप रही है। इस आशय की शब्दावली जब-तब सुनाई देती है कि अमुक बात है तो अच्छी, पर यह अमुक व्यक्ति, अमुक मत या अमुक समाजविशेष की है, इसलिए हमारे लिए ग्राह्य नही है। मेरी दृष्टि में इस प्रकार की मनोवृत्ति/चिन्तन बुद्धि-विपर्यय के सिवाय और कुछ भी नही है। शब्दांतर से कहूं तो यह व्यक्ति के लिए दुर्भाग्य की बात है। यह तो और भी गंभीर बात है कि धर्मक्षेत्र में भी यह मनोवृत्ति विकसित हो रही है। अमुक धर्म की बात ठीक तो है, पर ग्राह्य नही, क्योकि हमारे धर्म-सम्प्रदाय द्वारा यह निरूपित नही है। यह कैसा तुच्छ चिन्तन है! मैं पूछना चाहता हूं, क्या वर्षा का जल सर्वत्र एक सरीखा नही होता? घर की सीमा में बरसने वाला पानी मीठा होता है तो क्या घर से बाहर बरसनेवाला पानी मीठा नही होता? आप बरसात के पानी को कही पर भी चखकर देखेंगे तो आपको मीठा ही लगेगा। यह दूसरी बात है कि पानी यदि गन्दे पात्र मे गिरेगा तो गन्दा कहलाएगा और स्वच्छ पात्र मे गिरेगा तो स्वच्छ। पर जल के मौलिक स्वरूप से इस भेद की कल्पना करना यथार्थ नही। फिर गन्दे पात्र का जल गन्दापन दूर होते ही अपने निर्मल रूप मे निखर उठेगा। इसी तरह सत्य-अहिंसा-सयम-त्याग-तपस्यामय मौलिक धर्म चाहे कही भी क्यों न हो, वह सबके लिए ग्राह्य है। नामान्तर और स्थानान्तर से न तो उसके स्वरूप में किसी प्रकार के अन्तर की कल्पना की जा सकती है और न ही वह अग्राह्य समझा जा सकता है। हा, यह अवश्य है कि धर्म के ठेकेदार कहलानेवाले अगर धर्म की वास्तविक मर्यादाओं के अनुकूल अपने-आपको नही बनाते हैं तो वे अच्छे पात्र कहलाने के अधिकारी नही हो सकते। उनकी यह स्थिति स्वयं उनके लिए तो नुकसानदेह होती ही है, धर्म को भी बदनाम करनेवाली सिद्ध होती है। सामान्य लोग, जो यथार्थ की गहराई तक नही पहुंचते, उनके जीवन को देखकर धर्म के प्रति अन्यथा अवधारणा बना लेते हैं। उससे घृणा और परहेज करने लगते हैं। हालाकि ऐसा करना उचित नही है। धर्म तो जीवन को विकसित और पवित्र बनाने की निर्विकल्प प्रक्रिया है; आत्म-शान्ति और सुख का एकमात्र साधन है। उसको स्वीकार करके ही व्यक्ति अपने जीवन को सार्थक बना सकता है। उससे घृणा और परहेज करने का तात्पर्य है—जीवन-विकास और जीवन-पवित्रता से घृणा करना, आत्म-शान्ति और सुख से परहेज करना। ऐसा करके तो व्यक्ति स्वय अपने ही सौभाग्य की कब्र खोदता है। इसलिए कुछेक तथाकथित धर्म के ठेकेदारो के गलत आचरण और व्यवहार को देखकर धर्म के प्रति गलत अवधारणा नही बनानी चाहिए,

उससे घृणा और परहेज नही करना चाहिए।

## धर्म कहां रहता है ?

वन्धुओ ! तत्त्व रूप मे आप एक वात गहराई से समझ ले कि धर्म उसी व्यक्ति के जीवन में आ सकता है, जिसकी आत्मा एक सीमा तक विशुद्ध है। अशुद्धात्मा धर्म के लिए अपात्र है। इसलिए जिनकी आत्मा एक सीमा तक विशुद्ध नही है, वे धार्मिक नही हो सकते। भले व्यवहार में वे धार्मिक कहलाएं। इसलिए ऐसे तथाकथित धार्मिको के जीवन-व्यवहार एवं आचरण को धर्म के आदर्श के विपरीत देखकर किसी को भी धर्म के प्रति गलत अवधारणा नही वनानी चाहिए। जीवन की शान्ति, सुख और पवित्रता के निर्विकल्प साधन के रूप मे उसे स्वीकार करने मे किंचित् भी प्रमाद नही करना चाहिए। जहां-कही भी शुद्ध रूप में धर्म का तत्त्व प्राप्त हो रहा हो, उसे नि:सकोच और असंकीर्ण मनोवृत्ति से प्राप्त कर लेना चाहिए। सम्प्रदाय की सीमा उसके संग्रहण मे वाधक नही वननी चाहिए।

## संप्रदाय : सांप्रदायिकता

सम्प्रदाय अपने-आप मे कोई वुरा तत्त्व नही है। धर्म के मौलिक तत्त्वो के व्यापक प्रचार-प्रसार एवं सरक्षण के लिए सम्प्रदाय की उपयोगिता निर्विवाद है। वुरी है साम्प्रदायिकता। यह एक ऐसी व्याधि है, जो व्यक्ति को संकीर्णता की सीमा से वाहर नही झाकने देती। इतना ही नही, इस कारण मनुष्य ऐसे षड्यंत्र रचने की ओर प्रेरित होता है, जो उसकी धार्मिकता के लिए कलक का टीका है।

दुर्भाग्य से आज सांप्रदायिकता का रंग गहराता जा रहा है। वैसे अपेक्षा तो यह है कि आज हिंसा की चुनौती के सामने सभी धार्मिक लोग अहिंसा के सार्वजनीन और सार्वभौम मंच पर संगठित रूप में प्रतिरोधात्मक मोर्चा स्थापित करें। पर इस साम्प्रदायिकता के कारण वे इसके विपरीत आचरण कर रहे है। अहिंसा के मच पर संगठित प्रतिरोधात्मक मोर्चा वनाने के वनिस्पत स्वय ही परस्पर लड़-झगड़ रहे हैं। आक्षेप-प्रक्षेप और छीटाकशी कर रहे हैं। एक सम्प्रदाय दूसरे सम्प्रदाय के विचारो को विकृत रूप मे प्रचारित-प्रसारित कर लोगो को वहकाने-भड़काने का कार्य कर रहा है। मेरी दृष्टि मे ऐसा करना धार्मिकता की अपेक्षा से तो सर्वथा अनुचित है ही, मानवीय धरातल से भी वहुत नीचे स्तर की वात है। ऐसा करना परोक्ष रूप में स्वयं अपने साथ ही धोखा है। अपनी कमजोरी का ही प्रदर्शन है। अपनी विकृत मनोवृत्ति का ही प्रगटीकरण है। अपनी संकीर्ण भावना का ही परिचायक है। अपने दुष्कृत्यो का ही उद्घाटन है। एक वाक्य मे कहूं तो किसी धर्म-सम्प्रदाय द्वारा दूसरे धर्म-सम्प्रदाय को गिराने का प्रयास करना

उसकी अनधिकार चेष्टा है और उसके अहिंसा के प्रति अनास्थाशील व अनुत्तरदायी होने का द्योतक है।

## संदर्भ जोधपुर का

इस वार हमारा चातुर्मास जोधपुर मे था। साम्प्रदायिकता का रग इस चातुर्मास में खूब देखने को मिला। एक सम्प्रदायविशेष के द्वारा हमारे विचारो का विरोध किया गया। जहा तक सम्प्रदाय-सम्प्रदाय के वीच विचारभेद का प्रश्न है, यह कोई अस्वाभाविक वात नही है, वल्कि वहुत स्वाभाविक है, क्योंकि हर दिमाग का अपना स्वतत्र चितन होता है। ऐसी स्थिति मे पारस्परिक सौहार्दपूर्ण वातावरण की दृष्टि से यह नितान्त अपेक्षित है कि एक सम्प्रदाय दूसरे सम्प्रदाय के विचारो के प्रति सहिष्णु रहे। अपने यथार्थ विचारो मे दृढ रहता हुआ अन्य सम्प्रदाय के विचारो में सत्य को खोजने का प्रयत्न करे। अपने चितन की खिड़कियों को सदा खुला रखे। यदि सत्य नजर आए तो उसे ग्राहक-बुद्धि से निःसकोच स्वीकार कर ले और न आए तो उसे विचारभेद की सीमा तक ही सीमित रखे, मनभेद का रूप न दे।

हां, तो मैं आपसे जोधपुर चातुर्मास की वात कह रहा था। ऐसा कहना अन्यथा नहीं होगा कि वहा हमारा जो विरोध हुआ, वह विचारभेद की भूमिका पर नही, वल्कि मनभेद की भूमिका पर था। इस कारण हमारे विचारों/मान्यताओ को तोड़-मरोड़कर गलत ढंग से प्रस्तुत कर जन-मानस मे घृणा फैलाने का प्रयत्न किया गया। वातावरण को दूपित वनाने के उद्देश्य से वड़े-वड़े पोस्टर छपवाए गए। उन्हें दिवालो और दुकानो पर ही नही, वल्कि आम सडको पर भी चिपकाया गया। पोस्टरों मे लिखा था—'आचार्य तुलसी के अमानवीय सिद्धान्त'। लोगो मे वितरित करने के लिए पुस्तक भी छपवाई गई। हालाकि छद्‌मस्थता के कारण मेरे मन मे इस प्रकार के व्यवहार और आचरण को देखकर आक्रोश का उभरना अस्वाभाविक नही है, पर मुझे प्रसन्नता है कि मैंने उस स्थिति मे भी अपने संतुलन को विगड़ने नही दिया। एक साधक की भूमिका मे मै सारी हरकते सहता रहा। हां, मानस-सागर में यह विचार-ऊर्मि अवश्य उठी कि अपने-आपको धार्मिक माननेवाला कोई भी सम्प्रदाय/समाज/व्यक्ति मानवता और धर्म की मर्यादा के प्रतिकूल कृत्य कैसे कर सकता है? ऐसे कृत्यों से उसकी मानवता प्रश्नचिह्नित नही होती? धार्मिकता लांछित नही होती?

## हम इस इन्तजार में रहे ......

कई व्यक्तियो ने, जो वाद मे मेरे सम्पर्क मे आए, मुझ से कहा—"महाराज! हमने आपके विरोध मे खूब पढ़ा, खूब सुना। हम इस इन्तजार

में रहे कि देखें अब दूसरी ओर से इसके प्रतिकार में क्या-क्या आता है ? मगर हमें अन्ततः निराशा ही हाथ लगी। कई दिनो तक प्रतीक्षा करने के उपरान्त भी हमे आपकी ओर से प्रतिकार के रूप मे एक छोटी-सी चिनगारी भी नही मिली। हम तो आशकित थे कि एक सम्प्रदायविशेष के प्रति जिस ढंग से चिनगारियां उछल रही हैं, विष-वमन किया जा रहा है, उसका परिणाम जाने कितना भयकर आएगा ! परन्तु आपने आत्मिक सहिष्णुता के छीटे छिडककर आग को शात कर दिया। उगले हुए विष को उदारतापूर्वक उदरस्थ कर हजम कर लिया। आपके इस व्यवहार को देखकर हमारे मस्तिष्क मे विचार आया कि जो व्यक्ति विरोध का विरोध के द्वारा प्रतिकार नही करता, वह अवश्य ही कोई सामर्थ्यवान् व्यक्ति होना चाहिए। इस अनुमान के साथ ही हमारे मन मे आपके पास आने की प्रेरणा जनमी।"

## विरोध का प्रतिकार और तेरापन्थ की नीति

सचमुच हमारे पूर्वाचार्यों ने विरोध के प्रतिकार के सन्दर्भ मे जिस नीति का उन्नयन किया, वह भिन्न विचार रखनेवाले सम्प्रदायो, सस्थाओ और व्यक्तियो के लिए भी उपयोगी और उपादेय है। हमारे सघ की नीति यह है कि हम न तो स्वय किसी का विरोध करते हैं और न किसी निम्नस्तरीय विरोध का प्रतिकार ही करते हैं। छिछले विरोध का प्रतिकार करना कीचड़ में पत्थर फेंकने के समान है। इससे एक तरफ समय की बरबादी होती है तो दूसरी तरफ मानसिक पतन भी कम नही होता। वस्तुतः विरोध को विनोद समझकर हंसते-हंसते सह जाने मे ही मजा है, लाभ है। कोई इस सहन करने को व्यक्ति की कमजोरी समझ सकता है, पर मेरी दृष्टि में यह उसके आत्मबल की कसौटी है। मैं तो विरोध को एक अपेक्षा से स्वागतव्य भी मानता हूं। इससे सहज ही हमारा प्रचार-प्रसार हो जाता है। अपने साधनो से हम जितने व्यक्तियो के पास पहुंच पाते हैं, उससे कही अधिक व्यक्तियो के पास विरोध द्वारा पहुंच जाते हैं। अपरिचित लोगो मे हमारे विचार चर्चित होने लगते हैं। तब फिर उसे अपनी प्रगति का एक सूत्र क्यों न मान लिया जाए।

## कार्य ही उत्तर है

गहराई से देखा जाए तो विरोध का सही उत्तर अपना कार्य ही होता है। मैंने इस दर्शन को व्यवहार्य बनाया है और उसका बहुत सुन्दर परिणाम देखा है। विरोध करनेवाले अपना काम करते हैं। उनको रोक पाना हमारे हाथ की बात नही। और उन्हे रोकने की जरूरत भी क्या है। हम तो अपनी गति से सही दिशा मे कार्य करते रहे। हमारा कार्य स्वयं उनके विरोध को प्रभावहीन बना देगा।

## उनके पास रचनात्मक कार्य नहीं है

हां, एक बात तो अवश्य है। कई बार निम्नस्तरीय विरोध को देखकर मन मे ऐसा विचार उभरता है कि शायद विरोध करनेवाले लोगो के पास कोई रचनात्मक कार्य नही है। वे निकम्मे बैठे हैं। अन्यथा वे इस प्रकार अपनी शक्ति और समय का दुरुपयोग नही करते; कर्मों से अपनी आत्मा को भारी नही बनाते। खैर, यह तो उन्ही के सोचने का विषय है, मै तो मात्र यह मंगल कामना ही कर सकता हूं कि उन्हे सद्बुद्धि आए। वे अपनी कर्मजा शक्ति को निर्माण के कार्य मे लगाए। आज हम अणुव्रतवादियों के समक्ष इतना कार्य है कि हम अपनी पूरी शक्ति लगाकर भी प्रयास करे तो भी संभवतः उसे पूरा नही कर सकते। फिर भी हम जितना कर सके, उतना कार्य तो हमे अवश्य करना चाहिए।

## विरोध का प्रभाव

जोधपुर मे जो विरोध का वातावरण बनाया गया, मिथ्या भ्रान्तियां फैलाई गई, उनका किस पर क्या असर रहा, इस सन्दर्भ मे संक्षेप मे बता दू। उन लोगो पर असर नही के बराबर हुआ, जो धर्म के तटस्थ चिन्तन-मनन एव परीक्षण के बाद किसी बात को ग्रहण करते है, जिनके बारे मे भ्रान्तियां फैलाई गई है, उनके विचारो/सिद्धान्तो का यथार्थ मे धरातल पर अध्ययन करने के बाद ही किसी निर्णय पर पहुंचते हैं। अब रही साधारण लोगों की बात। उनका भ्रान्त बनना मेरी दृष्टि मे बहुत आश्चर्य की बात नही है। जब विरोधी लोगों द्वारा फैलाई जाने वाली बातों को वे यथातथ्य मानने मे किसी प्रकार का ऊहापोह नही करते, तब उनसे तत्त्व के हृदयंगम करने की क्या आशा की जा सकती है।

## अपेक्षित है निष्पक्ष अध्ययन

बन्धुओ ! इस परिप्रेक्ष्य मे आपसे एक बात मैं विशेष रूप से कहना चाहता हूं। जिस प्रकार दूसरों के विचारो को जानबूझकर विकृत बनाकर प्रचारित-प्रसारित करना अनुचित है, न्याय-नीति का गला घोटना है, उसी प्रकार बदनीयत से किये जा रहे विरोध के बारे मे ईमानदारी और तटस्थता से अन्वेषण किए बिना उसे सही मान लेना भी एक भयंकर भूल है। इसलिए समझदार/विवेकसम्पन्न लोगो का कर्तव्य है कि वे किसी भी विरोधी प्रचार-प्रसार का अपनी निष्पक्ष-बुद्धि से अध्ययन करें और फिर किसी निर्णय तक पहुंचें। निष्पक्ष अध्ययन किए बिना उसे सही मान बैठना न तो उस व्यक्ति के साथ न्याय है, जिसका कि विरोध किया जा रहा है और न स्वयं के साथ ही।

## विरोध के कुछ आधार

प्रासंगिक तौर पर मैं तेरापंथ की उन मान्यताओ का स्पष्टीकरण कर देना आवश्यक समझता हूं, जिनको कि आधार बनाकर हमारा विरोध किया गया। विरोधी लोगों के हमारे पर कुछ आक्षेप ये थे—१. तेरापंथी लोग किसी मरते प्राणी को बचाने का निषेध करते हैं। २. माता-पिता की सेवा करने से रोकते हैं। ३. अपने सिवाय किसी अन्य सम्प्रदाय के साधु को दान देने में पाप कहते हैं। ....

## मरते प्राणी को बचाने का निषेध

इस परिप्रेक्ष्य में पहली बात तो यह है कि तेरापथ की धर्म और पाप की अवधारणा बहुत स्पष्ट है। वह हृदय-परिवर्तन मे धर्म मानता है। बल-प्रयोग, दवाव, प्रलोभन जैसे तत्त्वो को किसी भी भूमिका में धर्म के रूप मे स्वीकार नही करता। धर्म का मच सार्वजनीन है, सबके लिए समान रूप से खुला है। एक गरीब/निर्बल को वहां उतना ही अधिकार है, जितना एक अमीर एवं बलवान् व्यक्ति को है। ऐसा कदापि नहीं हो सकता कि धनवान् अपने चंद चादी के टुकड़ो के बल पर धर्म को खरीद लें, बलवान् अपने डण्डे के प्रभाव से उस पर अधिकार जमा ले और गरीब व निर्बल निराशा-भरी आंखों से ताकते ही रह जाएं। धर्म को ऐसी पक्षपातपूर्ण और असंतुलित स्थिति कभी मजूर नही है। धन और डण्डे के साथ उसका कोई गठबंधन हो नही सकता। कसाई और बकरों का ही उदाहरण ले। बल-प्रयोग द्वारा कसाई के हाथों से बकरो को छुड़ाना हिंसा है। और हिंसा से कभी हिंसा को मिटाया नही जा सकता। क्या खून से सना कपड़ा कभी खून से साफ हो सकता है। यही बात धन की है। कसाई को रुपये देकर बकरो को बचाया अवश्य जा सकता है, पर सोचना तो यह है कि क्या रुपये देने से वास्तव में ही वे बच गये? क्या उन प्राप्त रुपयो से कसाई दुगुने बकरे खरीदकर नहीं काटेगा? और सबसे अधिक चिंतनीय बिन्दु तो यह है कि सदा मरने वाली कसाई की आत्मा बची? पैसो के बल पर धर्म का अर्जन करनेवालों के पास इन सब प्रश्नो का कोई समुचित और तर्कसंगत समाधान नही मिल सकता। धन के द्वारा बकरो को बचानेवाले जहा कसाई की दुष्प्रवृत्ति में सहयोग प्रदान करते हैं, हिंसा की वृद्धि में परोक्षरूप से अपनी सक्रिय सहायता पहुंचाते हैं, वही धर्म की सार्वजनीनता मे भी अवांछित/अनुचित हस्तक्षेप करते हैं। तत्त्व यह है कि चाहे धन का उपयोग किया जाए, चाहे डन्डे का प्रयोग किया जाए और चाहे बकरे भी बच जाएं, पर जब तक कसाई की हिंसक आत्मा का सुधार नही होता, उसके हृदय मे हिंसा के प्रति ग्लानि और उससे उपरत होने की भावना पैदा नही होती, तब तक धर्म का कोई प्रश्न ही पैदा नही होता।

बहुत समझने की बात यह है कि धर्म का सम्बन्ध शरीर-रक्षा से न होकर आत्म-रक्षा के साथ जुड़ा हुआ है। अतः आध्यात्मिक भूमिका में बकरों की शरीर-रक्षा का महत्त्व नहीं, कसाई की आत्म-रक्षा का महत्त्व है। एक कसाई यदि बकरों को मारने की दुष्प्रवृत्ति से उपरत हो जाएगा तो संसारभर के सारे बकरे उसकी तरफ से अभय हो जाएंगे। और कसाई की अन्तर्वृत्ति का सुधार उपदेश या हृदय-परिवर्तन से ही संभव है। अतः लौकिक दृष्टि से भले बकरों के बचाने को प्रमुखता दी जाए, मगर आध्यात्मिक दृष्टि से तो कसाई की आत्मा को हिंसा से बचाना ही मूल्यवान् है, आवश्यक है। कसाई की आत्मा के बचने के प्रासंगिक परिणाम के रूप में बकरों की रक्षा को जानना चाहिए। जहां समाजनीति और राजनीति प्रलोभन और दण्ड के बल पर लालच व आतंक पैदा कर अपनी व्यवस्था और साम्राज्य-रचना करती है, वहीं धर्मनीति उपदेश और हृदय-परिवर्तन के माध्यम से जन-जन के अन्तर्-हृदय तक अपनी स्फटिक-सी उज्ज्वल किरणें बिखेरती हुई अपनी निर्दोष भूमि का निर्माण करती है। हालांकि समाजनीति और राजनीति कहीं-कहीं धर्मनीति से मिल भी जाती हैं, पर बहुत जगह नहीं मिलतीं। इस अन्तर को बहुत स्पष्ट रूप से समझ लेना अपेक्षित है।

## माता-पिता की सेवा धर्म है ?

दूसरी बात है माता-पिता की सेवा करने के संदर्भ में। सेवा के दो प्रकार हैं—लौकिक सेवा और लोकोत्तर सेवा। एक व्यक्ति अपने माता-पिता की दिन-रात सेवा करता है। उनको मनचाहा भोजन करवाता है। दोनों समय स्नान करवाता है। उन्हें कावड़ में लिए घूमता है। अस्वस्थावस्था में चिकित्सा की व्यवस्था करता है। अन्यान्य विभिन्न प्रकार की आवश्यक व्यवस्थाएं जुटाता है। यह लौकिक सेवा है। एक दूसरा व्यक्ति अपने माता-पिता को धार्मिक सहयोग देता है। उनके ज्ञान, दर्शन और चारित्र की वृद्धि हो, ऐसा प्रयत्न करता है। उन्हें असंयम से संयम की ओर मोड़ता है। यह लोकोत्तर सेवा है। लोकोत्तर सेवा में संयम-पोषण की दृष्टि रहती है, आत्मोदय का चिंतन रहता है। जहां असंयम का पोषण होता हो, वह सेवा इस भूमिका में स्वीकार्य नहीं है। लौकिक सेवा करुणा-प्रधान है। वहां कर्तव्य-पालन का चिंतन मूल्यवान् है, संयम-पोषण की बात गौण है। वे प्रवृत्तियां भी इस सेवा के अन्तर्गत मान्य हैं, जो असंयम को पोषण देती हैं। जहां तक लोकोत्तर सेवा का प्रश्न है, वह सबके लिए प्रशस्य है, करणीय है। इसमें किसी के लिए निषेध का प्रश्न ही पैदा नहीं होता। पर जहां लौकिक सेवा का प्रश्न है, वहां उसके निषेध और अनिषेध की बात को भूमिका-भेद के साथ

समझना आवश्यक है। शुद्ध अध्यात्म की भूमिका में, जहा व्यक्ति पूर्ण संयम का जीवन जीता है, ऐसी कोई प्रवृत्ति कैसे कर सकता है, जो असयम को पोषण देती है। पर समाज की भूमिका में यह सीमा नही हो सकती। इस भूमिका मे जीने वाले व्यक्ति के लिए लौकिक सेवा का निषेध नही हो सकता, भले वह असंयम का पोषण करती है। इसका कारण भी बहुत स्पष्ट है। समाज की भूमिका पूर्ण संयम की भूमिका नही होती। असंयम को भी इस भूमिका मे मान्यता प्राप्त है। जब व्यक्ति स्वयं असयम से जुड़ा हुआ है, तब वह असंयम के बहाने लौकिक सेवा को भी अस्वीकार नही कर सकता। इस स्थिति मे सामाजिक व्यक्ति के लिए लौकिक सेवा के निषेध का प्रश्न ही कहां उठता है।

## धर्म और पाप : लौकिक और लोकोत्तर

लौकिक और लोकोत्तर भूमिकाओ के परिप्रेक्ष्य मे पाप और धर्म की व्याख्या भी जान लेनी चाहिए। लौकिक भूमिका में धर्म के अन्तर्गत परिवार, समाज, राष्ट्र आदि की व्यवस्था और आचार का समावेश होता है। दूसरे शब्दो मे कहा जाए तो वे सारे कर्तव्य लौकिक धर्म हैं, जो परिवार, समाज, राष्ट्र आदि की सुव्यवस्था, विकास और अस्तित्व के लिए आवश्यक हैं। यह बहुत साफ-साफ है कि परिवार, समाज, राष्ट्र आदि की व्यवस्था, विकास और अस्तित्व अर्थ और काम से जुडे हुए हैं। और जहा अर्थ और काम साध्य हैं, वहा एक सीमा तक हिंसा, असयम और भोग को भी कर्तव्य/धर्म के रूप में स्वीकार करना होता है। लोकोत्तर भूमिका मे आत्मविकास की प्रक्रिया के रूप मे धर्म को स्वीकार किया गया है। वहां मोक्ष साध्य है। इस साध्य की प्राप्ति के साधन हैं—अहिंसा, सयम, तप आदि। हिंसा, असयम आदि को वहां कोई भी स्थान प्राप्त नही है।

लौकिक और लोकोत्तर भूमिकाओ मे धर्म का स्वरूप स्पष्ट हो जाने के पश्चात् पाप का स्वरूप तो स्वय स्पष्ट है। लौकिक भूमिका मे पाप का अर्थ है—समाज, राष्ट्र आदि के हितो के विरुद्ध प्रवत्ति; समाज, राष्ट्र आदि की दृष्टि मे निंदनीय, दडनीय आचरण। पर लोकोत्तर भूमिका मे पाप की परिभाषा भिन्न है। वहा पाप का अर्थ है—मोक्ष में बाधक आचार-व्यवहार। दूसरे शब्दों मे हिंसा, असयम आदि से जुडी समस्त प्रवृत्तियां।

हालाकि लौकिक और लोकोत्तर धर्म और पाप कही-कही एक भी हो जाते हैं, पर बहुत जगह वे नही भी मिलते, बल्कि एक-दूसरे के सर्वथा विपरीत खड़े दिखाई देते हैं। उदाहरणार्थ, चोरी न करना लौकिक दृष्टि से भी धर्म है और लोकोत्तर दृष्टि से भी। इसके विपरीत चोरी करना लौकिक और लोकोत्तर दोनो ही भूमिकाओ मे पाप है। यहां लौकिक और लोकोत्तर

धर्म और पाप एक हो जाते हैं।

अव आप दूसरा उदाहरण देखें। राष्ट्र पर वाहरी आक्रमण के समय सैनिक युद्ध का मोर्चा संभालते हैं। दुश्मन को समाप्त करते हैं। लौकिक दृष्टि से इसे धर्म माना गया है। यानी यहा हिंसा को भी धर्म के रूप में स्वीकार कर लिया गया हैं। पर लोकोत्तर दृष्टि से तो अहिंसा ही धर्म है। वहां हिंसा मात्र त्याज्य है, अधर्म है, पाप है। यहां लौकिक और लोकोत्तर धर्म दोनो भिन्न-भिन्न हो जाते हैं।

यही वात पाप के संदर्भ में भी है। लौकिक दृष्टि से मांग कर खाना पाप समझा जाता है। पर लोकोत्तर भूमिका में भिक्षा लेना पाप नही है। उसे साधु की जीवन-चर्या का अंग माना गया है।

लौकिक और लोकोत्तर धर्म व पाप के संदर्भ में एक वात जानना और आवश्यक है। लौकिक भूमिका में धर्म व पाप की परिभाषाएं स्थिर नही हैं। देश-काल की परिस्थितियों और मूल्यो के अनुसार वदलती रहती हैं। आज जो प्रवृत्ति धर्म समझी जाती है, वहुत संभव है, वही कल पाप की कोटि मे आ जाए। इसी प्रकार आज जो प्रवृत्ति पाप मे परिगणित होती है, वही कालांतर मे धर्म मे परिगणित भी हो सकती है। पर जहां लोकोत्तर धर्म की वात है, उसकी धर्म और पाप की परिभाषाए स्थिर हैं। त्रिकाल मे किसी भी क्षेत्र मे वे परिवर्तित नही हो सकतीं। हिंसा, असंयम आदि अतीत मे सर्वत्र पाप थे, आज हैं और भविष्य मे रहेंगे। इसी तरह अहिंसा, संयम, तप आदि भूतकाल मे सर्वत्र धर्म थे, वर्तमान मे हैं और अनागत काल में धर्म वने रहेंगे।

वन्धुओ! लौकिक और लोकोत्तर धर्म व पाप की इतनी विस्तृत चर्चा मैंने इसलिए की कि जिससे आपकी दृष्टि स्पष्ट हो सके। आप लोग दोनों के भेद को स्पष्ट रूप से समझ सकें। जहां आप दोनों को अलग-अलग देखने लगेंगे, फिर आपके समक्ष किसी प्रकार की उलझन नहीं रहेगी। आप अपने लोकोत्तर एवं लौकिक दोनो प्रकार के धर्मों को समुचित प्रकार से निभा सकेंगे।

## दान देना पाप है ?

तीसरी वात दान के सन्दर्भ में है। आरोप यह है तेरापन्थी लोग इतरसम्प्रदाय के साधु-साध्वियो को दान देने मे पाप कहते है। इसके स्पष्टीकरण के रूप में सिद्धात रूप में मैं एक वात काहना चहता हूं कि हमारी ऐसी कोई मान्यता नही है कि तेरापन्थी साधु-साध्वियो के अतिरिक्त अन्य कोई भी दान का अधिकारी नही है, दूसरे-दूसरे संप्रदाय के साधु-साध्वियो को दान देने से पाप होता है। हमारी मान्यता यह है कि जिस दान में संयम

का पोपण होता है, वह धर्म है। दूसरे शब्दों में संसार में जो भी शुद्ध साधु-साध्वियां हैं, उन सबको दान देना धर्म है। अब अगर कोई यह पूछे कि शुद्ध साधु-साध्वियां कौन-कौन हैं, किस-किस संप्रदाय के साधु-साध्वियो को आप शुद्ध मानते हैं तो मैं इसका कुछ भी उत्तर नही दे सकता। जहां व्यक्तिगत चर्चा हो, वहां उलझना मैं अपने विचारों के प्रतिकूल मानता हूं। हां, यह मैं अवश्य बता सकता हूं कि शुद्ध साधु-साध्वियो की कसौटी क्या है ? मेरी दृष्टि में वह कसौटी है—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। जो साधु इन तीनों तत्त्वों से सम्पन्न है, वह फिर चाहे किसी भी सम्प्रदाय या पंथ से संबंधित क्यो न हो, वह शुद्ध साधु है। उसे दान देने मे एकांत धर्म है।

## प्रश्न भूखों-प्यासों को खिलाने-पिलाने का

इन आरोपो के अतिरिक्त एक आरोप और है—तेरापन्थी साधु भूखे-प्यासे को खिलाने-पिलाने की मनाही करते हैं। यह बात एकात मिथ्या और हमारे विचारो की हत्या है। कोई किसी को कुछ दे और कोई उसे वैसा करने से रोके, यह पाप है। साधु ऐसा व्यवहार कभी नही कर सकता। और जो ऐसा व्यवहार करता है, वह साधुत्व की हत्या करता है। ऐसी स्थिति मे किसी को भी कुछ देने की हम मनाही कैसे कर सकते हैं। वस्तुत: भूखो-प्यासो को खिलाने-पिलाने जैसी बाते सामाजिक व्यवस्था से जुडी हुई हैं, लोक-व्यवहार या लौकिक कर्तव्य से संबधित हैं। इसलिए उनके विधि-निषेध की बात उसी भूमिका पर सोची जानी चाहिए। लोकोत्तर धर्म को इनके बीच मे नही लाना चाहिए। चूंकि सामाजिक प्राणी समाज का एक अंग है और भूखा-प्यासा व्यक्ति भी समाज का एक अंग है, इसलिए अपने सामाजिक कर्तव्य या धर्म के नाते वह अपने समाज के भाई को सहयोग प्रदान करता है। इसमे लोकोत्तर धर्म या पुण्य का प्रश्न ही कहा पैदा होता है। जैसा कि मैं पूर्व मे ही स्पष्ट कर चुका हूं कि लोकोत्तर धर्म की भूमिका मे संयम-पोपण को धर्म माना गया है। जहां सयम-पोषण की बात नही है, वहां धर्म का सवाल ही नही है। पर सामाजिक प्राणी शुद्ध लोकोत्तर भूमिका को तो नही जीता। सभी प्रकार की सामाजिक/लौकिक प्रवृत्तिया भी तो वह करता है। व्यवहार को निभाता है। इसलिए लोकोत्तर धर्म न होने के बहाने वह अपने आवश्यक कर्तव्य/धर्म/दायित्व को अनदेखा नही कर सकता। हा, इतना अवश्य है कि वह अपनी दृष्टि सम्यक् रखे। यानी लौकिक धर्म/कर्तव्य को लौकिक धर्म/कर्तव्य समझे और लोकोत्तर धर्म को लोकोत्तर धर्म। लोक-व्यवहार/लौकिक कर्तव्य को लोकोत्तर धर्म न माने। तेरापन्थी लोगो के व्यवहार और इतरसम्प्रदाय के लोगों के व्यवहार मे यही अन्तर

है। आवश्यक सामाजिक प्रवृत्तियां तेरापन्थी लोग भी करते हैं और इतर-संप्रदाय के लोग भी। पर तेरापन्थी लोग उन्हें सामाजिक कर्तव्य/लौकिक धर्म मानकर करते हैं, लोकोत्तर धर्म नही मानते, जबकि दूसरे-दूसरे वहुत-से लोग उन्हे पुण्य और आत्म-धर्म के नाम पर करते है।

संक्षेप मे मैंने तेरापंथ की कुछ मान्यताओ को स्पष्ट किया है। और भी कुछ वातें स्पष्ट करना आवश्यक है। पर आज यह संभव नही है। भविष्य मे जव-जव अवसर आएगा, तव-तव उन्हे स्पष्ट करने का प्रयत्न करूंगा। तेरापन्थ के प्रणेता आचार्य भिक्षु एक महान् तत्त्वज्ञ आचार्य थे। जैन आगमो के तलस्पर्शी अध्ययन के वीच उन्हे जो रत्न हस्तगत हुए, उन्हे उन्होने सवके समक्ष रखा। उनकी कोई भी वात ऐसी नही है, जिसके नीचे आगमों का आधार न हो। आप लोगो का काम है कि आप केवल सुने ही नही, उस पर गभीरता से चिंतन भी करें, उसे यथातथ्य समझने का प्रयत्न भी करें। ऐसा हुआ तो मेरा विश्वास है कि आप तेरापन्थ की आत्मा को पहचान पाने मे सफल हो सकेगे, आचार्य भिक्षु के दर्शन से साक्षात्कार कर सकेगे।

ये सारी वाते मैंने प्रासंगिक रूप मे कही। मेरा आज का मूल प्रतिपाद्य था मानव-जीवन। मानव-जीवन की दुर्लभता और विशिष्टता की चर्चा मैंने की। उसको सफल वनाने के कुछ साधनो के वारे मे मैंने आपसे वताया। अव आप अपना कर्तव्य सुनिश्चित करे। इस जीवन को सफलता के शिखर पर पहुंचाने के लिए प्रयाण करे। सही दिशा मे किया गया प्रयाण एक-न-एक दिन मंजिल पर अवश्य पहुंचाता है।

आप देखे, जोधपुर से हम चले और चलते-चलते आज वम्वई (वोरीवली) पहुंच गए। कहां जोधपुर और कहां वम्वई! लगभग एक हजार मील (सोलह सौ कि० मी०) की यात्रा कर हम वम्वई पहुंचे हैं। यहा पहुंचकर एक अपेक्षा से हमारी यह यात्रा सम्पन्न हो गई है। हालांकि लोग गर्मी की मौसम तथा मार्गगत विभिन्न प्रकार की कठिनाइयो की कल्पना कर हमारे यहा पहुंचने के प्रति आशकित थे। पर मेरा लक्ष्य स्थिर था, सकल्प दृढ़ था। इतना ही नही, वल्कि मैं तो अपनी डायरी में वम्वई पहुचने के अपने निश्चय के वारे में फाल्गुन मास मे ही लिख चुका था। मुझे प्रसन्नता है कि अपने लक्ष्य और मानसिक संकल्प के अनुरूप मैं सानन्द वम्वई पहुंच गया हू। जिस प्रकार मेरी यह यात्रा सफलतापूर्वक सानन्द सम्पन्न हुई है, उसी प्रकार मेरा वम्वई-प्रवास भी सफलतापूर्वक सानन्द संपन्न होगा, ऐसी आशा करता हूं। पर यह सफलता केवल मेरे प्रयास पर ही निर्भर नही है, आप सव का भी सक्रिय सहयोग अपेक्षित है। सहयोग से मेरा तात्पर्य है कि आपको अपने कर्तव्य एवं दायित्व को निभाने मे सजगता वरतनी है। यात्रा मे आप लोगो

की यह सजगता मैं निरख चुका हूं, इसलिए आपसे ऐसी अपेक्षा करना अन्यथा नहीं है। अस्तु, स्व-पर कल्याण की भावना से चल रहा हमारा कार्यक्रम उत्तरोत्तर गतिशील रहे। हम अपने लक्ष्य के प्रति समर्पित भाव से निरन्तर वढ़ते रहें, अपने मनोवल को सदा मजबूत वनाए रखें, यही काम्य है। महावीर-स्तुति का निम्न पद्य हमें यही प्रेरणा देता है—

दृढ़ निष्ठा नियम निभाने में, हो प्राण वलि प्रण पाने में।
मजबूत मनोवल हो ऐसा, कायरता कभी न लाएं हम।
महावीर! तुम्हारे चरणों में श्रद्धा के कुसुम चढ़ाएं हम॥

वोरीवली (वम्बई)
१२ जून १९५४

# २. सुख-शांति का आधार

## साधु-सन्तों के स्वागत की स्वस्थ विधा

भारतीय संस्कृति त्यागप्रधान संस्कृति है। यह संस्कृति त्याग को जो मूल्य देती है, वह भोग को नही देती। यही कारण है कि भोग के सिंहासन लोगो के दिल व दिमाग मे विशेष स्थान नही पा सके, जवकि त्याग की जीवन-गाथाओ का आज भी पुण्य-स्मरण किया जाता है। आप लोगों ने अकिंचन साधु-संतो का स्वागत किया, यह उसी त्यागप्रधान संस्कृति का प्रभाव है। हालांकि साधु-संतो की यह अभिरुचि का विषय नही होता। वे तो स्वागत-अस्वागत, प्रशंसा-निंदा दोनो ही स्थितियो में सम रहने का प्रयत्न करते हैं। इसीमें उनकी साधना की सफलता है। पर जिनके मन में त्याग/संयम के प्रति सम्मान/श्रद्धा की भावना है, वे साधु-सन्तो का स्वागत/अभिनन्दन किए विना कैसे रह सकते हैं। साधु-सन्त त्याग/संयम के जीवन्त प्रतीक जो होते है, मूर्त रूप जो होते हैं। पर इस सदर्भ मे एक बात अवश्य समझने की है। साधु-संतो के स्वागत-अभिनंदन की विधा सामान्य स्वागत-अभिनन्दन से विशिष्ट होनी चाहिए, अनौपचारिक होनी चाहिए। हालांकि शाब्दिक स्वागत-अभिनन्दन औपचारिक ही होता है, ऐसा मैं नहीं मानता। आपके शब्दो मे आपकी श्रद्धा बोल रही थी, भावना प्रतिध्वनित हो रही थी। पर इतना सुनिश्चित है कि शाब्दिक स्वागत-अभिनन्दन पर्याप्त नही है। उससे और आगे बढ़ने की जरूरत है। त्यागी साधु-सन्तो का सच्चा स्वागत तो त्याग के द्वारा ही हो सकता है। साधु-संतों के स्वागत की परंपरा को इसी विधा से आगे बढाया जाए, यही भारतीय सस्कृति की गरिमा और प्रकृति के अनुरूप है।

## सुख-शांति का मार्ग

वन्धुओ! साधु-संतो के पास अकिंचनता/त्याग की ऐसी सम्पन्नता होती है कि उसके समक्ष संसार की सभी प्रकार की सम्पन्नताए नगण्य हैं। इस सम्पन्नता के कारण ही वे सभी प्रकार की भौतिक सुख-सुविधाओं के अभाव मे भी परम सुख और शांति का जीवन जीते हैं। सुख और शांति किसके जीवन की अभीप्सा नही होती। पर अभीप्सा के वावजूद संसार के वहुलाश प्राणी दु.खी और अशात हैं, यह एक सचाई है। इसका कारण भी वहुत

स्पष्ट है। लोग भौतिक पदार्थों और भोग में सुख-शाति की कल्पना करते है, खोज करते हैं। कैसी कल्पना ! कैसी खोज ! पानी से मक्खन निकालने की कल्पना ! आग मे पानी की खोज ! यह कैसे संभव है। रास्ता ही जब गलत चुन लिया तो मंजिल कैसे मिल सकती है। मजिल तक तो सही मार्ग ही पहुंचा सकता है। व्यक्ति साधु-सतो के जीवन से सुख और शाति की दिशा प्राप्त कर सकता है, मार्ग प्राप्त कर सकता है। जिन्होने भी उनके जीवन से प्रेरणा लेकर त्याग और सयम की दिशा मे प्रस्थान किया है, भौतिकता को पीठ दिखाकर आध्यात्मिकता की ओर मुह किया है, उन्होंने अपने जीवन मे सुख और शाति का अनुभव किया है। बंधुओ ! आप भी यदि सुख-शाति का जीवन में अनुभव करना चाहते है तो साधु-सन्तों के जीवन से प्रेरणा लेकर त्याग, संयम और अध्यात्म की दिशा मे प्रयाण करें। आपकी ललक नि सदेह पूरी होगी।

## अणुव्रत : मानव धर्म

आपके मन मे सभवत: यह विचार आ सकता है कि आचार्यजी सुख-शाति की प्राप्ति के लिए हमे साधु वनने की वात कह रहे हैं। निश्चित ही साधु-जीवन सुख-शांति का जीवन है। साधु बनना आत्मा का अभ्युदय है; सौभाग्य का सूचक है। जिसका सौभाग्य जागता है, वही साधु वन सकता है। पर साधु वनना कोई सामान्य वात तो नही है। इसमे वहुत साहस की जरूरत होती है। जो लोग पर्याप्त साहस जुटा पाते हैं, वे ही साधु वन सकते हैं, सब नही। इसलिए मैं सबके लिए साधु बनने की वात नही कहूगा। गृहस्थ-जीवन में रहकर भी एक सीमा तक आप सुख-शाति को प्राप्त कर सकते हैं। इसके लिए जरूरी है कि आपकी सग्रह-वृत्ति मिटे। आप आसक्ति से अनासक्ति की ओर गति करे। अन्याय और अनीति से विसम्बन्धन स्थापित करे। नैतिकता/प्रामाणिकता/सदाचार को जीवन मे स्थान दें। आपके मन मे संयम और त्याग के प्रति आंतरिक लगाव पैदा हो। 'सादा जीवन और उच्च विचार' जीवन का आदर्श वने। अणुव्रत आदोलन इसी भावना का प्रतिनिधित्व करता है। अपने व्यापक असाप्रदायिक दृष्टिकोण के आधार पर वह मानव-धर्म के रूप मे प्रतिष्ठित हो रहा है। जातिवाद, वर्णवाद आदि से सर्वथा मुक्त होने के कारण सभी जाति, वर्ण, वर्ग के लोग इसे समान रूप से अपना रहे है। आप भी इस मानवीय आचार-सहिता को समझे और इसके अनुसार अपने जीवन को ढालें। नि.संदेह आप अपने जीवन में सुख और शाति की दिशा का उद्घाटन कर सकेंगे। मानव-जीवन की सार्थकता अनुभव कर सकेंगे।

वोरीवली (वम्बई), १३ जून १९५४

# ३. संगठन के सूत्र

## क्रांति का इतिहास युवाशक्ति का इतिहास है

युवक शक्ति के प्रतीक होते हैं, पुंज होते हैं। उनकी शक्ति जिस कार्य मे लग जाती है, वह कठिन कार्य भी सहज बन जाता है। इसके विपरीत जिस कार्य को युवकों का सहयोग नहीं मिलता उसकी सफलता संदिग्ध बन जाती है। क्राति का इतिहास युवा-शक्ति का इतिहास है। प्रत्येक क्रांति युवको के सहयोग व असहयोग पर ही सफल व असफल होती रही है। हालांकि बुजुर्गों का सहयोग भी किसी भी कार्य की सफलता के लिए अपेक्षित रहता है, पर वह सहयोग चिंतन और अनुभव तक ही सीमित रहता है। चिंतन या योजना को क्रियान्विति के धरातल पर उतारने की अहम जिम्मेदारी युवा-वर्ग की होती है। यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि क्रियान्विति के लिए अपेक्षित पुरुषार्थ का नियोजन युवक ही कर सकते हैं।

## संगठन का आधार—चरित्र-बल

आज के युग की सबसे बड़ी अपेक्षा है कि युवक संगठित हों। 'संघे शक्ति कलौ युगे' के अनुसार सगठन मे बहुत शक्ति होती है। संगठित युवा-शक्ति समाज के नव-निर्माण मे निर्णायक भूमिका निभा सकती है। पर किसी भी सगठन का मौलिक आधार चरित्र-बल होता है। चरित्र-बल के आधार के बिना प्रथम तो कोई संगठन खड़ा नही हो सकता और कदाचित् खड़ा हो भी जाए तो वह जीवन्त नही हो सकता, बहुत दिनो तक टिक नही सकता। देखते-देखते ही वह धराशायी हो जाता है। इसलिए युवकों का ध्यान इस बात की ओर आकर्षित करना चाहता हूं कि जिस प्रकार उनमे शरीर-बल होता है, उसी प्रकार चरित्र-बल भी जागे।

चरित्र से आप मेरा तात्पर्य समझते होंगे। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह की साधना का नाम चरित्र है। हालांकि इन तत्वों की संपूर्ण आराधना करना गृहस्थ के लिए संभाव्य और व्यवहार्य नही है, पर एक सीमा तक तो इनकी साधना हर कोई कर ही सकता है। और वह उसके स्वस्थ जीवन के लिए आवश्यक भी है। नैतिकता, प्रामाणिकता, सदाचार, करुणा, मैत्री, सतोप, अनासक्ति आदि इन्ही तत्त्वो के इर्द-गिर्द

घूमनेवाले मूल्य है। जो व्यक्ति इन मूल्यों को अपने जीवन का आदर्श वनाकर चलता है, वह चरित्रवान् कहलाता है।

चरित्र के सदर्भ मे एक वात और कहना चाहता हूं। हालांकि इसका का मूलभूत सम्वन्ध व्यक्ति की अपनी आत्मा से है स्वयं ही वह इसका विकास कर सकता है, तथापि संपर्क भी इसके विकास मे निमित्त और सहयोगी वनता है। चरित्रनिष्ठ व्यक्तियों का संसर्ग व्यक्ति के चरित्र की गुणात्मकता को विकसित करता है। साधु-सतो का सान्निध्य उसके लिए अपने चरित्र को उज्ज्वल रखने/वनाने की अभिप्रेरणा वनता है। इस दृष्टि से युवको को साधु-साध्वियो का सान्निध्य सलक्ष्य साधना चाहिए।

## संगठन और निःस्वार्थवृत्ति

संगठन की दूसरी अपेक्षा है निःस्वार्थ वृत्ति। जिस संगठन के साथ जितने अधिक नि.स्वार्थी व्यक्ति जुड़ते हैं, वह अपने उद्देश्य मे उतना ही अधिक सफल हो पाता है, उतनी ही अधिक अपनी मंजिल की दूरी तय कर पाता है। इसके विपरीत जो सगठन स्वार्थी लोगो से घिर जाता है, वह न केवल अपनी लक्ष्य-प्राप्ति मे ही असफल रहता है, वल्कि अपने अस्तित्व के लिए भी खतरा पैदा कर लेता है। स्वार्थों के परस्पर संघर्ष मे पिस कर वह समाप्त हो जाता है।

## संगठन की सफलता का आधार—एक नेतृत्व

अव प्रश्न हो सकता है कि संगठन का सचालन कैसे हो? इस विषय मे मेरा स्पष्ट मत है कि संगठन का नेतृत्व एक व्यक्ति के सक्षम हाथो मे होना चाहिए। जिस संगठन मे सारे ही नेता वन जाएं और अपनी-अपनी राग आलापने लगें, उस संगठन के भविष्य पर अन्धकार का आधिपत्य हो जाता है। नीतिकार ने कहा है—

**यत्र सर्वेऽपि नेतार·, सर्वे पण्डितमानिनः।**
**सर्वे महत्त्वमिच्छंति, तद् राष्ट्रं विद्धि दुःखितम्॥**

और भी कहा गया है—

**नहि-पति वहु-पति निवल-पति, पति-कुमार पति-नार।**
**और पुरन की का कहौं, सुरपुर होत उजाड़॥**

## उदाहरण तेरापन्थ का

उदाहरण के लिए आप तेरापन्थ धर्मसघ को ही लें। इस सघ मे एक आचार्य के नेतृत्व की परस्परा है। सघ के अस्तित्व मे आने के समय जव वहुत थोड़े-से साधु थे, तव यह परम्परा शुरू हुई थी और आज लगभग साढे छह सौ साधु-साध्विया हैं तो भी यह परपरा ज्यों-की-त्यों चल

रही है। ऐसा नही कि सैकड़ों साधु-साध्वियो मे कोई भी विद्वान् और योग्य नही है। संघ में बहुत-से साधु-साध्विया उच्चकोटि के विद्वान् हैं, चिन्तक है, सघ को नेतृत्व देने मे सक्षम हैं, किंतु जहां तक व्यवस्थागत अनुशासन का प्रश्न है, वहां एक आचार्य का नेतृत्व ही मान्य है। इस एक आचार्य के नेतृत्व की व्यवस्था ने संघ के सर्वतोमुखी विकास में बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

## संघहित सर्वोपरि है

सगठन की सफलता के लिए यह नितात अपेक्षित है कि नियन्ता संघ-हित को सर्वोपरि महत्त्व दे। संगठन के हर छोटे-बड़े सदस्य को विकास का समान अवसर मिले। कोई भी सदस्य अपने-आपको उपेक्षित न समझे। जहा सघहित की बात को गौण कर नेता अपना व्यक्तिगत हित या स्वार्थ देखने लगता है, वहा संगठन तो कमजोर होता ही है, उसका स्वयं का नेतृत्व भी विवादास्पद बन जाता है; संगठन पर उसकी पकड़ ढीली पड़ जाती है।

नियन्ता के लिए यह आवश्यक है कि वह ऋजु हो, वक्र न हो। वक्रता अपने-आपमे एक बहुत बडा दुर्गुण है। इससे व्यक्ति का तो अहित होता ही है, संगठन के विकास में भी बडा अवरोध पैदा हो जाता है। मैंने कई बार देखा है कि नेता की वक्रता के कारण किए-कराए कार्य पर सहसा पानी फिर जाता है। किनारे आई नाव डूब जाती है। और फिर आश्चर्य की बात यह कि वे कहते हैं—अरे ! सारा बना-बनाया काम कैसे बिगड़ गया ? सचमुच ऐसे व्यक्ति संघ को नेतृत्व देने के योग्य नही होते। सयोग से वे नेता बन भी जाते हैं तो क्या, संगठन को नही चला सकते।

## अहं-विसर्जन जरूरी है

संगठन की सफलता का एक बहुत महत्त्वपूर्ण सूत्र यह है कि संगठन का प्रत्येक सदस्य स्वयं के अहं का विसर्जन कर चले। यानी हर सदस्य संगठन के दूसरे-दूसरे सदस्यों को महत्त्व दे। जहा स्वयं के स्थान पर दूसरे को महत्त्व देने की वृत्ति होती है, वहा संगठन मजबूत रहता है, एकसूत्रता बनी रहती है। सब एक-दूसरे के लिए सहयोग/सहकार के लिए प्रस्तुत रहते हैं। किसी की भी कठिनाई को मिल-बांट कर समाहित करते हैं। इसके विलोम मे जहा स्वयं को अधिक महत्त्व देने की मनोवृत्ति होती है, 'मैं बड़ा हूं' यह भावना काम करती हैं, वहां संगठन मे छेद हुए बिना नही रहता, फूट पड़े बिना नही रहती। क्यो ? इसलिए कि जहा अहंवृत्ति प्रभावी होती है, वहां औचित्य/न्याय गौण हो जाता है और स्वयं के अहं को सुरक्षित रखने की बात प्रमुख। इसके लिए अनुचित-से-अनुचित साधन काम मे लेने मे

कोई संकोच/परहेज नही रहता। इसकी परिणति यह होती है कि दूसरो मे असतोप पैदा होता है और असतोप से मन-मुटाव की स्थिति पैदा हो जाती है। फलतः सगठन अव्यवस्थित हो जाता है, छिन्न-भिन्न हो जाता है।

## मूल्यवान् है बुजुर्गो का अनुभव

युवको के संगठन के लिए युवको और बुजुर्गो के वीच की खाई को पाटा जाना अत्यंत आवश्यक है। इस खाई को पाटे विना युवको का सगठन सुचारु रूप से नही चल सकता। प्राय· देखा जाता है कि युवक-दिमाग और वुजुर्ग-दिमाग आपस मे मिलते नही हैं। वुजुर्गो का दिमाग धीमी गति से आगे वढ़ना चाहता है। उनकी शारीरिक शक्ति क्षीण होती है, इसलिए ऐसा अस्वाभाविक भी नही है। इसके साथ ही जीवन के खट्टे-मीठे अनुभव भी उन्हे अपनी गति को धीमी रखने के लिए सचेत करते हैं। इसके विपरीत युवको का खून नया/गर्म होता है। उनका दिमाग तीव्र गति से आगे वढ़ना चाहता है। पर अनुभवो की कमी के कारण वे जगह-जगह स्खलित हो जाते हैं। अत. युवको का काम है कि वे आगे वढ़ने के उत्साह के साथ वुजुर्गो के अनुभवो को जोड़ दें। वुजुर्गों के सामने से एक जमाना गुजरा हुआ होता है। इसलिए उन्हे गति के वीच आने वाले अवरोधो, खतरो और उनसे निपटने के लिए अपेक्षित सावधानियो का ज्ञान होता है। इस ज्ञान/अनुभव के साथ गति करने से स्खलना की सभवना वहुत कम रह जाती है। गति की निरन्तरता वनाए रखने के लिए यह वहुत आवश्यक भी है। वार-वार स्खलित होने की स्थिति मे व्यक्ति के निराश/हताश हो जाने की संभावना वनी रहती है। हताश/निराश व्यक्ति अपनी गति का सातत्य वनाकर नही रख सकता। इस दृष्टि से मैंने वुजुर्गो के अनुभवो को जोड़ने की वात कही। अनुभवो को जोडने का अर्थ है कि वुजुर्गों को अपने कार्य के साथ जोडना। इससे वुजुर्गों और युवको के वीच की खाई स्वय पट जाएगी। मैं युवको और वुजुर्गों के परस्पर सहयोग को वहुधा अन्धे और पंगु का-सा सहयोग कहता हूं। अन्धा देख नही सकता और पंगु चल नही सकता। किंतु अन्धा यदि अपने कंधो पर पंगु को विठा ले तो दोनो की गाडी ठीक ढग से चल सकती है। पंगु स्वयं वैठे नही, पर अन्धा स्वयं अपने कधो पर उसे विठा ले, तव भी काम चल सकता है। अतः पुनः इस वात पर वल देना चाहता हूं कि युवक वुजुर्गो की उपेक्षा नही, अपितु उनकी अनुभव-संपदा का समुचित उपयोग करें और अपने यात्रा-पथ को प्रशस्त वनाएं।

## जोश के साथ होश

युवको के संगठन के संदर्भ मे मैंने कुछ वाते उनसे कही। मैं

स्वयं युवा हूं और समाज के युवाओं से मेरा वहुत निकटता का संपर्क है। उनकी प्रकृति और स्थिति को मै खूव पहचानता हूं। युवको का एक वर्ग ऐसा होता है, जिसे तूफान-सा जोश आता है और उस समय वह न जाने कितनी बड़ी-वडी कल्पनाएं कर वैठता है, कैसी-कैसी लम्वी-चौड़ी योजनाए वना डालता है। पर वाद मे उसका वह जोश ठंडा पड़ जाता है और वह शिथिल होकर वैठ जाता है। इस वर्ग के युवक कुछ भी महत्त्वपूर्ण कार्य कर सकने में सफल नहीं हो पाते।

दूसरे प्रकार के युवको में जोश तो होता है, पर वे अति में नही जाते। अपनी शक्ति, सामर्थ्य, श्रद्धा आदि को देखकर एक-एक कदम आगे वढ़ते हैं। ऐसे युवक प्रायः सफल होते हुए देखे जाते हैं। नव-निर्माण का इतिहास ऐसे ही युवको के नाम लिखा हुआ है। अपेक्षा है, हमारे संघ के युवकों मे जोश के साथ यह होश भी वना रहे। जोश-होश का सुयोग उन्हें वड़े-से-वड़े कार्य को अमलीजामा पहनाने की अर्हता प्रदान करेगा।

वोरीवली
१५ जून १९५४

# ४. शिक्षा का फलित—आचार

## शिक्षा का उद्देश्य

शिक्षा जीवन के अभ्युदय की दिशा है; जीवन को सवारने की प्रक्रिया है। यदि शिक्षा से यह संसिद्धि नही होती है तो इसका सीधा-सा अर्थ है कि शिक्षा अधूरी है अथवा गलत है। दुर्भाग्य से आज कुछ ऐसी ही स्थिति वन रही है। जीवन को विकसित करने और सवारने के स्थान पर वह आजीविका का साधन वन रही है। सचमुच शिक्षा जैसे महान् तत्त्व का अति सामान्य उद्देश्य के लिए उपयोग कर लोगों ने न केवल स्वय के लिए घाटे का सौदा किया है, अपितु शिक्षा का भी अवमूल्यन किया है।

प्राचीन शास्त्रो ने लिखा है—'**सा विद्या या विमुक्तये।**' अर्थात् विद्या वही है, जिससे मुक्ति की प्राप्ति हो। मुक्ति से तात्पर्य है—वन्धन-मुक्ति। आत्मा सभी प्रकार के वन्धनों से मुक्त होकर निर्वन्ध हो जाए, अपने शुद्ध स्वरूप को उपलब्ध हो जाए, परमात्मा वन जाए—यह परम अभ्युदय है। इस अभ्युदय को पाने के साथ ही शिक्षा कृतार्थ हो जाती है, सिद्धि में बदल जाती है।

## हम चलते चलें

पर निर्वन्ध वनना, अपने परमात्म-स्वरूप को उपलब्ध होना कोई सामान्य वात तो नही है। इस मजिल तक पहुंचने के लिए व्यक्ति को एक लंवा सफर तय करना होता है। इतना लम्वा कि जन्म-जन्मान्तरो तक यह चलता रहता है। पर इस वात को सुनकर आपको किंचित् भी निराश होने की जरूरत नही है। सर्वथा निर्वन्ध की स्थिति भले इस जन्म में उपलब्ध न हो, पर एक सीमा तक तो आप निर्वन्ध वन ही सकते हैं। आत्मा की सम्पूर्ण पवित्रता भले न सधे, पर एक सीमा तक तो पवित्रता सध ही सकती है। और जिस सीमा तक आत्मा निर्वन्ध वनती है, आत्म-पवित्रता सधती है, उस सीमा तक की आपकी मंजिल तो तय हो ही जाती है। हजार मील के सफर मे दस मील भी व्यक्ति चल लेता है तो उतनी यात्रा तो उसकी कम हो ही जाती है। इसलिए मैंने कहा, इस वात को सुनकर कि जन्म-जन्मांतरो तक सफर चलता रहता है, आपको किंचित् भी निराश होने की अपेक्षा

नही है। अपेक्षा इतनी है कि विद्या के माध्यम से जितनी निर्वन्धता और पवित्रता सधती है, उसे आप सुरक्षित रखे और अप्राप्त के लिए सतत प्रयत्नशील रहे। इस क्रम से एक दिन सुनिश्चित रूप से आप लक्ष्य तक पहुंच जायेगे।

## आचार की प्रतिष्ठा हो

शिक्षा के सन्दर्भ मे एक वात अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। लोग बुद्धि के विकास को ही शिक्षा मान लेते हैं, आचार की प्रतिष्ठा की ओर ध्यान नहीं देते। पर गहराई से देखा जाए तो आचार की प्रतिष्ठा ही मूल्यवान् है। इससे ही शिक्षा के मूलभूत उद्देश्य की प्राप्ति हो सकती है। पचास वड़े-वड़े पोथे पढ़कर भी यदि व्यक्ति ने यह नही सीखा कि उसे आचारनिष्ठ रहना चाहिए तो उसका ज्ञान भारभूत है। पर मेरे इस कथन का यह तात्पर्य नहीं कि पुस्तकीय ज्ञान सर्वथा अनुपयोगी है, अनुपादेय है। वह भी उपयोगी है, उपादेय है, वशर्ते वह व्यक्ति के आचारसम्पन्न वनने मे प्रेरक वने। दूसरे शब्दो मे कहूं तो पुस्तकीय ज्ञान आचार के साथ ही शोभित होता है, सार्थक होता है।

आचारवान् बनने का सीधा-सा तरीका यह है कि व्यक्ति पढ़े हुए पाठ को जीवनगत वनाए, व्यवहार और आचरण मे ढाले। यदि विद्यार्थियो के समक्ष इस लक्ष्य की स्पष्टता रहेगी तो उनके लिए विद्या भार नही, भूषण वन जाएगी। इससे उनका स्वय का जीवन तो निर्मित और सार्थक होगा ही, समाज और राष्ट्र की भी वे उल्लेखनीय सेवा कर सकेंगे। आप इस वात को कभी न भूलें कि निर्मित विद्यार्थी ही अच्छे समाज का निर्माण कर सकते हैं, उन्नत राष्ट्र की नीव धर सकते हैं। अभिभावकों और अध्यापको का कर्तव्य है कि वे समाज और राष्ट्र के इन भावी कर्णधारों के जीवन-निर्माण के प्रति जागरूक वने। उनकी जीवन-उर्वरा में सत्संस्कारो के वीजो को वोने और अकुरित होने के कार्य को सर्वोच्च अहमियत प्रदान करे। इस दिशा मे उनकी सजगता स्वस्थ समाज-सरचना का मौलिक आधार वनेगी।

वोरीवली (मुम्बई)
१५ जून १९५४

# ५. असंग्रह देता है सुख को जन्म

## सुख और दुःख का हेतु

भारतवर्ष आज आजाद है, विदेशी हुकूमत से मुक्त है। परन्तु यह कैसी स्थिति है कि आजादी के बाद जो सुख और शान्ति जन-जीवन मे आनी चाहिए थी, वह नही आई, बल्कि आज तो आजादीपूर्व के दिनो से भी अधिक दु ख और अशाति की आवाजे आ रही हैं। और यह भी कैसी विचित्र बात है कि गरीबों की तरह ही धनिक लोग भी दुःखी और अशांत हैं। और तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाए तो अमीर लोग ज्यादा दु खी और अशांत है। इसका कारण भी स्पष्ट है। उन्हे रात-दिन अपने धन की सुरक्षा की चिन्ता बनी रहती है। इस चिन्ता के कारण उनका दिन का भोजन और रात्रि की नीद हराम हो जाती है। जिस धन का संचय वे सुख और शाति से जीने के लिए करते हैं, वही उनके लिए दु·ख और अशांति का कारण बन जाता है। इसलिए आप इस सचाई को समझने का प्रयत्न करें कि संग्रह दु·ख और अशांति का हेतु है। सुख और शाति का हेतु त्याग है, सतोष है। जहां व्यक्ति मे त्याग और संतोष की वृत्ति जनम जाती है, उसका दुःख और अशाति से सहज छुटकारा हो जाता है। अतः आप यदि दुःख और अशांति से छूटना चाहते हैं, सुख और शाति का जीवन में अनुभव करना चाहते हैं तो आपको त्याग का पथ स्वीकार करना होगा, सन्तोष का जीवन जीना होगा। साधु-संतों के सुख और शातिमय जीवन का राज यही तो है कि वे त्याग का जीवन जीते हैं, सन्तोष का जीवन जीते हैं।

## धन साध्य नहीं, साधन है

आज चारों ओर संग्रह की मनोवृत्ति बढ़ती जा रही है। आदमी सब-कुछ बटोर लेना चाहता है। उसकी आकाक्षा बहुत जल्दी ससीम से असीम मे पहुंच जाती है। यह शुभ नही है। जब अल्प संग्रह भी शोषण और अन्याय को जन्म देता हैं तो असीम सग्रह की भावना तो लूट-खसोट और युद्ध को जन्म देगी-ही-देगी। यदि आप इस त्रासदी को नही भोगना चाहते तो अभी से संभले। धन के प्रति अपने दृष्टिकोण को सम्यक् बनाएं। उसे जीवन का साध्य नही, साधन समझें। अन्यथा उसके दुष्परिणाम भोगने के सिवाय कोई

दूसरा विकल्प नही है ।

## गृहस्थ और असंग्रह

आप कहेगे, हम तो गृहस्थ है, वाल-वच्चेदार है । ऐसी स्थिति मे धन के विना हमारा काम कैसे चल सकता है । उसका थोड़ा-बहुत संग्रह तो करना ही होता है । मैं आपकी स्थिति से अच्छी तरह से परिचित हूं, आपकी अपेक्षाओ को समझता हूं । इसलिए ऐसी वात नही कहूंगा, जो व्यवहार्य न वन सके । मैं आपको ऐसी वात ही वताऊंगा, जिसे आप अपने पारिवारिक/सामाजिक/राष्ट्रीय दायित्वो को निभाते हुए अपना सकते है । सम्पूर्ण त्याग और असग्रह की वात आपके लिए व्यवहार्य नही है, पर अनावश्यक संग्रह न करने की मर्यादा तो बना ही सकते है । गलत साधनो से धन न कमाने की वात तो स्वीकार कर ही सकते हैं । यदि इस सीमा तक भी आप असंग्रह को अपना लेते हैं, सन्तोष स्वीकार कर लेते हैं तो भी आप दु:ख और अशांति से काफी हद तक छुटकारा प्राप्त कर सकते हैं ।

## धर्म को सही प्रतिष्ठा मिले

धर्म व्यक्ति-व्यक्ति को त्याग और सन्तोष का जीवन जीने की अभिप्रेरणा देता है । परन्तु दुर्भाग्य से आज धर्म अपनी सही प्रतिष्ठा पर नही है । वह जीवनगत न होकर धर्मस्थानो और धर्मग्रन्थो की शोभा बढ़ा रहा है । इसलिए उसका वास्तविक लाभ जन-जन को प्राप्त नही हो रहा है । अपेक्षा है, उसे अपनी सही प्रतिष्ठा मिले । वह जन-जन के जीवन में विराजमान हो । जीवन के हर आचरण और व्यवहार में प्रतिबिम्बित हो । यदि ऐसा होता है तो व्यक्ति के धार्मिक बनने की सीमा विस्तृत हो जाएगी, वहुत विस्तृत । यानी वह केवल माला गुनने, मन्दिर जाने और सन्तों के सान्निध्य मे वैठने के समय ही धार्मिक नही होगा, वल्कि घर, ऑफिस, दुकान सर्वत्र धार्मिक होगा । ऐसी स्थिति मे वह किसी को धोखा नहीं देगा, शोषण नहीं करेगा, अनावश्यक धन-सग्रह नही करेगा । एक वाक्य मे कहूं तो वह कोई भी ऐसी प्रवृत्ति नही करेगा, जो उसकी धार्मिक प्रतिष्ठा के प्रतिकूल हो । इसलिए आप सबसे कहना चाहता हूं कि आप धर्म को सही रूप मे पहचाने, पहचानकर उसे जीवनगत वनाएं । निश्चित ही आपके जीवन मे त्याग और संतोष के फूल खिलेगे । और जहां त्याग और संतोष के फूल खिलेंगे, वहां सुख और शांति का सौरभ महकेगा ही ।

वोरीवली (मुम्वई)
१५ जून १९५४

## ६. सुधार की शुभ शुरुआत स्वयं से हो

### धर्म वही अच्छा है ......

धर्म आज के वहुचर्चित विषयों मे से एक है। मै देखता हूं, लोग धर्म की लम्वी-चौड़ी वाते खूव वनाते है, अपने-अपने धर्म का यशोगान वहुत गाते हैं। उसे ऊंचा, श्रेष्ठ और उदार सावित करने का प्रयत्न करते हैं। मैं भी मानता हू कि धर्म वहुत ऊंचा तत्त्व है, सर्वोच्च तत्त्व है। वह जीवन की शान्ति और सुख का एकमात्र आधार है, आत्म-पवित्रता का अनन्य साधन है। पर है तभी, जव वह जीवन मे उतरे, विचार और आचार मे ढले, व्यवहार मे प्रतिविम्वित हो। मैं पूछना चाहता हू, क्या वह जीवन मे उतरा है ? विचार और आचार मे ढला है ? व्यवहार मे उसका कोई प्रतिविम्व उभरा है ? यदि हां, तो निश्चित ही धर्म वहुत ऊचा तत्त्व है, सर्वश्रेष्ठ तत्त्व है, जीवन के लिए सवसे वड़ा वरदान है। अगर नही तो धर्म व्यक्ति के किस मतलव का। कैसी उसकी उच्चता। कैसी उसकी श्रेष्ठता। इस स्थिति मे वह सुख और शान्ति का आधार नही हो सकता, आत्म-पवित्रता का साधन नही वन सकता। तात्पर्य यह कि धर्म वही अच्छा और ऊचा है, जो व्यक्ति के जीवन मे रम जाए। दूध और मिश्री की तरह एकमेक हो जाए। जो धर्म जीवन मे नही रमता, उसकी व्यक्ति के लिए कोई कीमत नही। इसलिए यह नितान्त अपेक्षित है कि व्यक्ति धर्म के कोरे यशोगीत गाने की अपेक्षा उसे जीवनगत वनाने के लिए जागरूक वने। इस दिशा मे अपने पुरुपार्थ का नियोजन करे। उसकी यह जागरूकता और पुरुषार्थ-नियोजन उसके सौभाग्य को जगाने वाला सिद्ध होगा, मानव-जीवन को सार्थकता प्रदान करने वाला सावित होगा।

### समाज-सुधार की प्रक्रिया

आज चारो तरफ सुधार की चर्चा है। राजनैतिक नेता, सामाजिक कार्यकर्ता, शिक्षाशास्त्री और धर्मगुरु इसकी महती आवश्यकता वताते हैं। जहां तक सुधार की वात है, वह किसी भी स्तर पर क्यो न हो, अच्छी है, अनुमोदनीय है, उपादेय है। पर सुधार की व्यापक चर्चा के वावजूद भी सुधार हो नही रहा है, यह एक कटु सत्य है। ऐसा क्यो ? इसका कारण

वहुत स्पष्ट है । सब दूसरों को सुधारना चाहते हैं, दुनिया को वदलना चाहते हैं, परन्तु स्वय सुधरना नही चाहते, खुद को बदलना नही चाहते, जवकि सुधार की शुभ शुरुआत स्वय से होनी चाहिए, स्वयं के वदलाव से होनी चाहिए । यदि व्यक्ति-व्यक्ति स्वयं के सुधार और वदलाव के प्रति गंभीर हो जाए, जागरूक वन जाए तो समाज-सुधार की वात स्वयं कृतार्थ हो जाएगी; दुनिया स्वयं वदल जाएगी । वस्तुत: स्वयं का सुधार ही समाज का सुधार है । स्वयं का वदलाव ही दुनिया का वदलाव है । वास्तविक सुधार की प्रथम और अतिम मंजिल स्वयं का सुधार ही है । धर्म जीवन-सुधार की प्रक्रिया है, वदलाव का मार्ग है । जिसके जीवन में धर्म के फूल खिलते है, उसके जीवन मे सुधार और वदलाव की महक फूटती है । इसलिए यह नितान्त अपेक्षित है कि व्यक्ति-व्यक्ति धर्म को यथार्थ के धरातल पर समझे और उसे जीवनगत वनाए । धर्ममय जीवन जीना ही जीने की सच्ची कला है ।

## आचारनिष्ठा पनपे

मेरे सामने काफी संख्या मे विद्यार्थी वैठे है । धर्म की वात उनके लिए भी उतनी ही आवश्यक है, जितनी दूसरे-दूसरे लोगो के लिए । अन्यथा उनका जीवन निर्मित नही हो सकता । चूकि विद्यार्थी तत्त्व की अधिक वारीकी मे नही जा सकते, इसलिए मैं उनके समक्ष धर्म की गंभीर चर्चा नही करूगा । सार रूप मे एक-दो सीधी-सीधी वाते ही वताऊगा । विद्यार्थी आचारनिष्ठ वनें, विनम्र वने । ज्ञान का वास्तयिक सार आचार ही है । यदि वर्षों तक अध्ययन करके भी विद्यार्थियो मे आचारनिष्ठा नही पनपती है तो मानना चाहिए कि उनका अध्ययन सार्थक नही है । शब्दांतर से कहूं तो वह उनके लिए भारभूत ही है । इसलिए विद्यार्थी आचार को सर्वोपरि स्थान दे ।

## विद्या प्रकाश है

दूसरी वात है विनम्रता की । कहा जाता है कि विद्या से विनयशीलता आती है । वात सही है । वस्तुत: विद्या प्रकाश है । विद्या के आने के वाद अहकार को टिकने के लिए कोई स्थान ही नही रहता । दीपक जलने के वाद अंधकार को टिकने के लिए कहां अवकाश है । पर आज तो इसके ठीक विपरीत स्थिति देखने को मिल रही है । जो विद्या विनय की प्रदात्री है, अहंकार का नाश करनेवाली है, वह स्वय अहकार पैदा कर रही है, उच्छृखलता और उद्दडता को जन्म दे रही है । हो सकता है, इसमे वातावरण का कुछ दोष हो, पर मूलभूत कारण त्रुटिपूर्ण शिक्षा-प्रणाली है । उसे दुरुस्त किये विना विद्या अपना सही परिणाम नही दे सकती । मुझे तो आशका है कि आने वाले समय मे कही विद्या स्वयं एक समस्या न बन

जाए। यदि ऐसा होता है तो इससे अधिक दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति और क्या होगी ! ऐसी दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति न आए, इसके लिए शिक्षा-जगत् के अधिकारी लोगो को इस बिन्दु पर अपना ध्यान केन्द्रित करना चाहिए। धर्म समस्याओ का समाधायक तत्त्व है। शिक्षा के साथ उसे जोड़कर इस समस्या को समाहित किया जा सकता है।

मलाड (मुम्बई)
१७ जन १९५४

# ७. अहिंसक शक्तियां संगठित कार्य करें

## युग की मांग

मैं एक पदयात्री हूं। मैंने हजारो मील की पदयात्रा की है। अनेक प्रान्तों मे मैं गया हूं। सैकडों-हजारो शहरो और गावो का मैंने स्पर्श किया है। इस दौरान सर्वत्र मैंने लोगों को यह कहते सुना कि आज मानव मानवता से शून्य हो गया है। उसमे इतनी अमानवीयता आ गई कि कुछ कहते नही वनता। प्रश्न है, क्या आज मानवता नष्ट हो गई है ? मैं ऐसा तो नहीं मानता कि मानवता की चेतना समूल नष्ट हो गई है, पर इतना सुनिश्चित है कि मानवता सुसुप्त है, मूर्च्छित है। उसे पुन: जगाने की जरूरत है। मूर्च्छा को तोडने की जरूरत है। इसका एक ही उपाय है कि अहिंसा का तत्त्व जन-जनव्यापी बने; जन-जन अध्यातम के प्रति आस्थाशील बने। इसलिए मैं धर्माधिकारियो, साहित्यकारों, कवियो, लेखको, पत्रकारों को आह्वान करता हूं कि मानवता को जगाने के लिए, उसकी पुन: प्रतिष्ठा करने के लिए वे सघन प्रयास करे। अपनी पूरी शक्ति और सामर्थ्य को वे इस कार्य के लिए नियोजित कर दे। आज का युग इसकी मांग कर रहा है।

## सारा संसार अहिंसक हो जाएगा ?

कई वार लोग मुझसे पूछते हैं, आप अहिंसा का मिशन लेकर चल रहे है तो क्या आप सारे ससार को पूर्ण अहिंसक वना देगे ? उन्हें मेरा उत्तर होता है—अव तक के इतिहास मे ऐसा कोई युग नही आया, जवकि सारा ससार अहिंसक वना हो। फिर भी युग-युग मे अहिंसक शक्तियां अपने-अपने ढग से अहिंसा की प्रतिष्ठा के लिए प्रयत्न करती रही है। आज हम लोग भी वही प्रयास कर रहे हैं। पर मैं इस भाषा मे नही सोचता कि हमारे इस प्रयास से सारा ससार अहिंसक/धार्मिक वन जाएगा। वस्तुत: सारे ससार के अहिंसक और धार्मिक वनने की वात कर्णप्रिय और लुभावनी तो वहुत है, पर व्यावहारिक और संभव नही है। व्यावहारिक और सभव इतना ही है कि हमारे प्रयास से कुछ प्रतिशत लोग ही अहिंसक और धार्मिक वन सकेंगे। पर इसके वावजूद भी हम अपने कार्य मे सफल है। फिर मैं तो यहा तक भी सोचता हूं कि हमारे प्रयत्न से यदि एक व्यक्ति भी अहिंसक

या धार्मिक नहीं बनता है तो भी हम असफल नहीं हैं। वस्तुतः हमारी सफलता और असफलता की कसौटी परिणाम नहीं, बल्कि कार्य के प्रति हमारी निष्ठा, समर्पण और पुरुषार्थ-नियोजन है। चूंकि इस सोच के साथ हम अपना कार्य करते हैं, इसलिए हमारे सामने निराशा की कोई स्थिति पैदा नही हो सकती। हमारा प्रयत्न यह है कि हम हिंसा की अपेक्षा अहिंसा का पलड़ा भारी कर दे, अधर्म की तुलना मे धर्म का पलडा भारी कर दे। यदि ऐसी स्थिति बन जाती है तो यह एक बहुत बडी उपलब्धि होगी। इस उपलब्धि के बिन्दु तक पहुंचने के लिए अपेक्षित है कि अहिंसक शक्तियां संगठित होकर एक दिशा मे काम करे। पर न जाने कैसा सयोग है कि चोर, डाकू, बदमाश लोग आपस में मिल जाते हैं, संगठित होकर अपना कार्य करते हैं, पर अहिंसक और धार्मिक लोग मिलने मे कठिनाई महसूस करते हैं। इसलिए सामूहिक प्रयास नही हो पाता। इस कार्य मे यह एक बहुत बड़ी बाधा है। इस बाधा को सलक्ष्य मिटाना चाहिए। 'अणुव्रत' वर्षों से वर्ग, वर्ण, जाति और सम्प्रदाय के भेद के बिना जन-जन मे अहिंसा की चेतना जगाने के लिए कार्य कर रहा है; धर्म को जन-जन के जीवन-व्यवहार मे प्रतिष्ठित करने के लिए प्रयत्नशील है। सभी अहिंसक शक्तियो के एक स्थान पर एकत्रित होने के लिए यह एक मच की भूमिका निभा सकता है। अपेक्षा है, लोग इसके दर्शन और कार्य-पद्धति से परिचित हो।

अन्धेरी (मुम्बई)
२० जून १९५४

# ८. महावीर : जीवन और दर्शन

हम भगवान महावीर के अनुयायी हैं। हालांकि भगवान महावीर जैन परम्परा से जुडे हुए हैं, पर उनका व्यक्तित्व इतना व्यापक है कि वह किसी भी परम्पराविशेष की सीमा मे वन्ध नही सकता। उनके विचार और सिद्धांत समूची मानव-जाति के लिए उपयोगी और कल्याणकारी हैं। उनका निर्वाण हुए ढाई हजार वर्ष होनेवाले हैं। पर आज भी उनकी प्रासंगिकता किंचित् भी कम नही हुई है।

## जीवन की तीन अवस्थाएं

भगवान महावीर के सम्पूर्ण जीवन को हम तीन भागों मे बांट सकते हैं—गृहस्थ जीवन, मुनि जीवन और कैवल्य जीवन। वे तीस वर्षों तक गृहस्थावस्था में रहे, साढे वारह वर्षों तक मुनि अवस्था में रहे और फिर तीस वर्ष उन्होने कैवल्य अवस्था में व्यतीत किए। इस प्रकार उनकी कुल जीवन-यात्रा लगभग साढे वहत्तर वर्षों की थी।

## प्रबुद्ध महावीर !

सवसे पहले उनके गृहस्थ जीवन को देखें। जन्म के पश्चात् जव वे कुछ वड़े हुए तो पाठशाला मे पढने के लिए गए। हालांकि तीर्थंकर गर्भावस्था से ही मति, श्रुत और अवधि—इन तीन ज्ञानो से सम्पन्न होते हैं। इस स्थिति मे उनका पढ़ने के लिए पाठशाला जाने का कोई अर्थ नही है, तथापि वे लोक-परम्परा/व्यवस्था/व्यवहार के प्रति पूर्ण जागरूक होते हैं। इसलिए परम्परा/व्यवस्था/व्यवहार के पालन के लिए महावीर ने पाठशाला में प्रवेश लिया। कहा जाता है, इन्द्र ब्राह्मण का वेश वनाकर विद्यालय मे आया। उसने महावीर से अक्षर और उनकी पर्याय के वारे मे नानाविध प्रश्न किए। महावीर ने उनका उत्तर दिया। उत्तर इतना विलक्षण था कि उससे व्याकरण के अनेक गभीर रहस्य प्रकट हो गए। ब्राह्मण ने उपाध्याय से कहा—"कुमार स्वय प्रबुद्ध है। ऐसी स्थिति में उसे प्रवोध देना क्या आवश्यक है ?"

उपाध्याय स्वयं भी कुमार महावीर की असाधारण वौद्धिक क्षमता से आश्चर्यचकित था। उसने कुमार महावीर के समक्ष अपने मन के कुछ

संदेह भी रखे। कुमार महावीर ने उनका समुचित उत्तर देकर उसे समाहित किया। उपाध्याय को लगा, कुमार तो स्वय मुझे पढ़ाने की क्षमता रखता है। इसके ज्ञान के समक्ष मेरा ज्ञान बहुत बौना पड़ता है। बस, उसने कुमार महावीर को ससम्मान घर के लिए विदा कर दिया। साथ ही महाराज सिद्धार्थ के पास संदेश भिजवाया कि राजकुमार को विद्यालय में पढ़ने के लिए भेजने की अपेक्षा नही है। विद्यालय की सारी शिक्षा से वह सम्पन्न है।

## अभय महावीर !

महावीर अपने साथियो के साथ उद्यान मे खेल रहे थे। अचानक वहां एक विशाल सर्प निकल आया। महावीर के बाल-साथी उसे देखते ही डर कर भाग खड़े हुए। पर महावीर नही भागे। उन्होने बडी निभयता के साथ सांप को हाथ मे पकड़कर दूर फेंक दिया। उन्होने सांप को मारा नहीं, इसमे भी यह रहस्य छिपा हुआ है कि अपनी रक्षा के लिए गृहस्थो को आते हुए उपसर्गों से बचना तो पड़ता है, पर निरर्थक किसी को मारना नही चाहिए। कहा जा सकता है कि महावीर अपनी प्रवृत्ति-प्रवृत्ति से जन-जन को बोध-पाठ देते रहते थे।

## माता-पिता के दुःख की संवेदना

उनकी गर्भावस्था की बात भी जानने-जैसी है। वे जब माता त्रिशला के गर्भ मे थे, तब एक दिन उन्होने सोचा, मैं गर्भ मे हिलता-डुलता हूं, इससे माता को कष्ट होता है। मुझे माता को कष्ट क्यो देना चाहिए। बस, इसी चिन्तन के साथ उन्होने हिलना डुलना बद कर दिया। निष्प्रकम्प होकर ठहर गए।

माता त्रिशला ने जब अनुभव किया कि मेरा गर्भ हिल-डुल नही रहा है तो उसका मन आशकित हो उठा। थोड़ी देर तक उसने प्रतीक्षा की। पर जब गर्भ के हिलने-डुलने का कोई सकेत नही मिला तो वह एकदम उदास हो गई। महाराज सिद्धार्थ तक बात पहुंची तो वे भी चिन्तित हो उठे। और राजा-रानी की चिन्ता ने पूरे राजकुल को चिन्तित बना दिया। रग में भंग हो गया। खुशियो के माहौल के स्थान पर विषाद का माहौल बन गया।

गर्भस्थ महावीर ने बाहर की ओर ध्यान दिया। उन्होने देखा, वातावरण सहसा एकदम बदल गया है। सबके चेहरों पर चिन्ता की रेखाएं हैं। उन्होने कारण पर ध्यान दिया और सारी बात स्पष्ट हो गई। कारण ध्यान में आने पर उनके मन मे चिन्तन उभरा—मैंने माता को व्यर्थ के कष्ट से बचाने के लिए हिलना-डुलना बन्द किया था। पर यह तो उलटा हो

गया। मेरा न हिलना-डुलना न केवल माता के लिए, अपितु पूरे परिवेश के लिए कष्टकर हो गया। विचित्र है इस जगत् की स्थिति! बस, तत्काल उन्होंने पुनः हिलना-डुलना शुरू कर दिया। माता त्रिशला को जैसे ही पुनः गर्भस्थ शिशु के हिलने-डुलने का अनुभव हुआ, उसकी प्रसन्नता लौट आई और देखते-देखते सारा वातावरण पुनः रागरंगमय बन गया। महावीर ने माता-पिता की मनःस्थिति को ध्यान मे रखकर उसी समय प्रतिज्ञा की—जब तक माता-पिता जीवित है, तब तक मैं उन्ही के पास रहूंगा। उनके स्वर्गस्थ होने के पश्चात् ही दीक्षा स्वीकार करूंगा। उनकी यह प्रतिज्ञा जन-सामान्य को यह बोध-पाठ था कि माता-पिता का दिल नही दुखाना चाहिए। माता-पिता के स्वर्गस्थ होने के पश्चात् बडे भाई नन्दिवर्धन के कहने पर दो वर्षों तक दीक्षा ग्रहण करने की बात स्थगित रखी यह भी एक बोध-पाठ ही था। अपने से बडो की भावना का सम्मान करना चाहिए। उनकी भावना को तोड़ना उचित नही है।

## वर्षीदान और धर्म

गृहस्थ जीवन के अन्तिम बारह महीनो मे महावीर ने दान दिया। जैसा कि मैंने कहा, लौकिक परम्पराओं/व्यवस्थाओ/व्यवहार के प्रति वे बहुत सजग थे। इसलिए उस दृष्टि से जितने भी कार्य आवश्यक थे, वे उन्होने किए। दान भी एक लौकिक परम्परा है। पर समझने की बात यह है कि लौकिक कार्यो का पुण्य/धर्म से कोई सम्बन्ध नही है। यदि इस दान में पुण्य/धर्म माना जाएगा तो फिर स्नान में भी पुण्य/धर्म मानना होगा, क्योकि दान के बाद उन्होने स्नान भी किया था। इस प्रकार की और भी अनेक बातें बताई जा सकती हैं, जो लौकिक परम्पराओ/व्यवस्थाओ/व्यवहार से संबधित होने के कारण महावीर ने की थी, पर बावजूद इसके उनमे पुण्य/धर्म का कोई काम नही है। उन्हे मात्र लोक-प्रथा के आचरण की भूमिका में ही रखना चाहिए।

## चौथे गुणस्थान से सातवें गुणस्थान में

तीस वर्षों के गृहस्थ-जीवन के पश्चात् महावीर का मुनि-जीवन प्रारम्भ होता है। दीक्षा ग्रहण करने के समय महावीर सप्तम गुणस्थान को प्राप्त हुए। यह एक बहुत बडी उपलब्धि है। इतने दिनों तक वे चौथे गुणस्थान मे थे। सामान्य लोगो की तरह महावीर पांचवे गुणस्थान में कभी नही रहे। आप पूछेंगे, ऐसा क्यो? यह परम्परा है कि तीर्थंकर कभी छोटे-मोटे त्याग-प्रत्याख्यान नही करते। श्रावक नही बनते। सीधे साधु ही बनते हैं। इसलिए उनमे पांचवा गुणस्थान प्राप्त नही होता। जयाचार्य ने चौवीसी के अन्तर्गत एक जगह इस बात का स्पष्ट उल्लेख किया है—

जिन चक्री सुर जुगलिया रे, वासुदेव वलदेव ।
पंचम गुण पावै नहीं रे, रीत अनादि स्वमेव ।।

अर्थात् तीर्थंकर भगवान, चक्रवर्ती, देवता, जुगलिया (यौगलिक) वासुदेव और वलदेव—इन सवमे पांचवां गुणस्थान प्राप्त नही होता । यह अनादिकालीन परम्परा है । इनमे से जो दीक्षा लेते हैं, उन्हे दीक्षा लेते ही चौथे से सीधा सातवां गुणस्थान प्राप्त होता है । वहा से या तो वे अगले गुणस्थान में चले जाते हैं, अन्यथा छठे गुणस्थान मे चले आते हैं । छठे से पुन: सातवें में, सातवें से पुन: छठे में ...यह क्रम लम्वे समय तक चलता रहता है ।

## जीवित समाधि !

हां, तो दीक्षा लेने के साथ ही महावीर पूर्ण संयमी/अहिंसक वन गए । इसके साथ ही उन्होने कठिन साधना का पथ स्वीकार कर लिया । एक अपेक्षा से अपने शरीर का व्युत्सर्ग ही कर दिया । यानी शरीर की सार-संभाल छोड़ दी । दूसरे शब्दो मे उन्होने जीवित समाधि ले ली । इसी अभिग्रह के कारण महावीर के कष्टो का दौर शुरू हो गया । विरोधी लोगो को अच्छा अवसर मिल गया । तेरापन्थ के आद्य प्रवर्तक आचार्य भिक्षु ने अपने उत्तराधिकारी भारमलजी स्वामी से कहा था—"यदि कोई तुम्हारे मे दोष निकाले तो तुम्हे प्रायश्चित्तस्वरूप एक तेला करना होगा ।" भारमलजी स्वामी ने कहा—"विरोधी लोगो को यह पता चलेगा तो वे झूठमूठ ही मुझमें दोष निकालने की कोशिश करेगे । ऐसी हालत मे भी क्या मुझे तेला करना होगा ?" आचार्य भिक्षु ने कहा—"हां, तेला तो हर हालत मे करना ही होगा । अगर तुम्हारी गलती होगी तो तेला करने से तुम्हारा प्रायश्चित्त हो जाएगा और अगर गलती नही होगी तो तुम समझना कि पूर्वार्जित कर्मों की निर्जरा हुई है ।" महावीर के भी इस अभिग्रह के कारण कर्मों की प्रचुर निर्जरा हुई । साढ़े वारह वर्ष के साधनाकाल मे उन्हे चीटियो, चूहो, सर्पो, कुत्तों आदि क्षुद्र जन्तुओं से लेकर मनुष्यो एव देवताओ तक के उपसर्ग सहन करने पड़े । पर गजव की थी महावीर की सहिष्णुता ! गजव की थी उनकी धृति ! एक क्षण के लिए भी मन में कमजोरी नही आई । अनुकूल-प्रतिकूल सभी प्रकार की स्थितियों को समतापूर्वक सहन करते रहे । इस साधना के द्वारा उन्होने कैवल्य की प्राप्ति की ।

## शाश्वत धर्म का उपदेश

साधना-काल मे महावीर लगभग मौन रहे । वे उपदेश नही देते थे । पर कैवल्य-प्राप्ति के पश्चात् उन्होंने उपदेश देना प्रारम्भ कर दिया । केवल-ज्ञान की भूमिका पर उन्होने जिस सत्य का साक्षात्कार किया उसे उन्होने जन-जन को बताया । उन्होने कहा—'**सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा**

**सव्वे सत्ता ण हन्तव्वा ण अज्जावेयव्वा ण परितावेयव्वा ण उदवेयव्वा ।'** अर्थात् ससार का कोई भी प्राणी वध्य नही है, अनुशासनीय नही है, गुलाम बनाने योग्य नही है, परितप्तनीय नही है, प्राणवियोजनीय नही है । तात्पर्य यह कि हर प्राणी जीना चाहता है । हर प्राणी स्वतत्र रहना चाहता है । मौत और परतन्त्रता कोई नही चाहता ।

महावीर ने कहा—**'सव्वे पाणा पियाउया सुहसाया दुक्खपडिकूला'**—सभी प्राणी सुखप्रिय है, दु.ख सभी को अप्रिय लगता है। इसलिए किसी भी प्राणी को दु:ख नही देना चाहिए, उसके सुख को नही छीनना चाहिए। एक शब्द मे कहा जाए तो अहिंसा मनुष्य का सबसे वडा धर्म है, परम धर्म है । यह धर्म शाश्वत है, नित्य है, ध्रुव है । काश ! मानव इस अहिंसा-धर्म का सही-सही मूल्याकन कर पाता ।

## अहिंसा का व्यावहारिक रूप

लोग कहेगे, अहिंसा की वात सिद्धांत रूप मे तो अच्छी है, पर व्यावहारिक कैसे हो सकती है । हिंसा के विना गृहस्थ का काम नही चल सकता । महावीर सामाजिक प्राणी की परिस्थितियो से वहुत अच्छी तरह से परिचित थे । इसलिए उन्होने अहिंसा को दो भागों मे विभक्त कर दिया । उन्होंने कहा, जो लोग गृहत्यागी है, पूर्ण सयमी हैं, साधु हैं, वे पूर्ण अहिंसा का पालन करे, अहिंसा का महाव्रत स्वीकार करे । पर जो लोग घर, परिवार, समाज आदि के दायित्वो से वन्धे है, उनके लिए उन्होने अहिंसा के महाव्रत की अव्यावहारिक वात नही कही । उनके लिए उन्होने अहिंसा के अणुव्रत की वात सुझाई । यानी वह एक सीमा तक अहिंसा का व्रत स्वीकार करे । निरपराध प्राणी की हिंसा न करे, सकल्पजा हिंसा न करे, निष्प्रयोजन हिंसा न करे । यदि इस सीमा तक भी गृहस्थ लोग अहिंसा का व्रत स्वीकार कर लेते है तो विश्व का वातावरण वहुत शांतिमय वन सकता है। आज चारो तरफ जो अशांति का वातावरण दिखाई दे रहा है, उसका एक वहुत बड़ा कारण हिंसा ही है । वस्तुत: अहिंसा की पालना कर व्यक्ति दूसरो पर दया नही करता है, वल्कि स्वय का ही हित साधता है । दूसरे शव्दों में कहा जाए तो दया दूसरों पर नही, स्वयं अपने पर ही होती है। कविवर तुलसीदासजी ने यही कहा है—

**'तुलसी' दया न पार की, दया आप की होय ।**
**तू किणनै मारै नहीं, तनै न मारै कोय ॥**

आज देश मे जहा-तहां हिन्दू-मुस्लिम दंगे होते है । क्यो होते हैं ? इसीलिए तो कि कही एक वर्ग के लोग दूसरे वर्ग के किसी व्यक्ति को घायल कर देते हैं, मार देते है । उसकी प्रतिक्रिया होती है और दूसरा वर्ग भी हिंसा

पर उतर आता है। इस प्रकार विरोध की अग्नि प्रज्वलित हो जाती है और वह आगे-से-आगे बढ़ने लगती है। यदि इस समय एक वर्ग समझदारी, विवेक और सयम से काम लेता है तो यह आग अधिक प्रज्वलित नही होती। इसलिए इस सचाई को आप समझे कि अहिंसा की पालना कर व्यक्ति स्वयं का ही उपकार करता है। दूसरो का हित तो उसके परिणामस्वरूप सहजरूप से हो जाता है।

थोड़ी गहराई से देखा जाए तो अहिंसा और दया दोनो एक ही हैं। दया वही है, जहा अहिंसा है। जहा हिंसा है, वहां दया कदापि नही हो सकती। तेरापन्थ-प्रणेता आचार्य भिक्षु ने इस विषय को वहुत विस्तार से स्पष्ट किया है।

## आवश्यक हिंसा धर्म नहीं

भगवान महावीर ने कहा, गृहस्थ को वहुत-सारी हिंसाजन्य प्रवृत्तियां करनी होती हैं। उनके विना उसका काम नही चलता। कभी झूठ भी वोलना पड़ सकता है। उदाहरणार्थ, किसी व्यक्ति को गवाह के रूप मे पूछ लिया जाए कि अमुक समय में तुम कहां थे? वह क्या उत्तर दे? उसे कोई याद थोड़े रहता है कि आज से इतने वर्ष, इतने महीने, इतने दिन पहले वह कहां था? ऐसी स्थिति में उसे झूठ वोलना पड़ सकता है। किन्तु वह उसे अच्छा तो न माने। हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह से जुड़ना उसके लिए आवश्यक तो हो सकता है, पर वह आत्म-धर्म नही है, यह तो उसे मानना ही चाहिए। लेकिन कैसा आश्चर्य है कि वहुत-सारे लोग इनमे भी धर्म मानने लग जाते हैं! व्यापारी जमा और नावें अलग-अलग ओली मे लिखता है। अगर कोई व्यापारी दोनो को एक ही ओली मे लिख दे तो उसकी रोकड़ कैसे मिलेगी। यही वात धर्म और अधर्म के सन्दर्भ मे है। जो प्रवृत्तियां हिंसा, झूठ आदि से जुड़ी हुई हैं, उन्हे यदि व्यक्ति आत्म-धर्म मानेगा तो उसके जीवन की रोकड़ कैसे मिलेगी।

## दान बनाम त्याग

भगवान महावीर ने त्याग को वहुत मूल्य दिया, वल्कि यह भी कहा जा सकता है कि सर्वाधिक मूल्य दिया। वस्तुतः महावीर-दर्शन में त्याग ही धर्म है। जीवन मे जितना-जितना त्याग होता है, उतना-उतना धर्म होता है और जितना-जितना भोग होता है, उतना-उतना अधर्म होता है। कुछ लोग त्याग और दान को एक मान लेते हैं। पर गहराई से ध्यान दिया जाए तो दोनो मे वहुत अन्तर है। दान सामान्य देने को कहा जाता है। इसमे व्यक्ति के मन मे नाम, यश, कीर्ति आदि की भावना होती है। दी जानेवाली वस्तु या धन के प्रति ममत्व की भावना टूटती नही है। त्याग ममत्व/आसक्ति/

मूर्च्छा के टूटे विना नही हो सकता। उसमे नाम, यश आदि की भावना भी नहीं रहती। एक व्यक्ति पचीस हजार रुपयों से अधिक धन न रखने का नियम करता है, यह त्याग है। दूसरा व्यक्ति अपने धन मे से पचीस हजार रुपये किसी सस्था को देता है, यह दान है।

## समन्वय का मंत्र : अनेकान्त

भगवान महावीर ने अनेकातवाद के रूप मे एक बहुत ऊंचा सिद्धांत दिया। इस सिद्धात के आधार पर हम विरोधी वस्तुओं में भी समन्वय खोज सकते हैं। पर समन्वय का अर्थ यह नही कि गुड़ और गोवर को एक कर दिया जाए। समन्वय का अर्थ है—किसी अपेक्षा से एक करना। जैसे, भिन्नता की दृष्टि से पांचों अंगुलिया भिन्न-भिन्न हैं, एक नही हैं, पर उन्ही अंगुलियों को वन्द कर लिया जाता है तो वे मुट्ठी के रूप मे एक हो जाती हैं। किन्तु एक होने के वावजूद भी सारी अंगुलियां भिन्न-भिन्न होती हैं, एक नही होतीं। इसी प्रकार किसी दृष्टि से हम दो विरोधी चीजों को एक कह सकते हैं और दूसरी दृष्टि से अलग-अलग। जहा वस्तु अनन्तधर्मा होती है, वहा उसे देखने की दृष्टिया भी अनन्त हैं। इसलिए किसी एकांगी दृष्टि को पकडकर वैठना उचित नही है। इससे व्यक्ति सत्य तक नही पहुंच सकता। दूसरे शब्दो मे एकागी दृष्टि या आग्रह असत्य का ही दूसरा नाम है। सत्य को वही व्यक्ति उपलब्ध हो सकता है, जो वस्तु को अनेकांत दृष्टि से देखता है।

हमारे व्यवहार-जगत् मे जितने भी संघर्ष और विवाद सामने आते है, उनके पीछे मूलभूत कारण ऐकांतिक दृष्टि या वैचारिक आग्रह ही होता है। यदि व्यक्ति अपनी दृष्टि को व्यापक वनाकर प्रतिपक्ष के दृष्टिकोण को समझने का प्रयास करे तो वैचारिक संघर्ष या विवाद जैसी कोई वात को टिकने के लिए अवकाश ही शेष नहीं रहता। महावीर के इस सिद्धात को व्यवहारगत वनाकर हम विरोधी-से-विरोधी परिस्थिति मे सामंजस्य स्थापित कर सकते हैं, समन्वय खोज सकते हैं। अपेक्षा है, अनेकांत का सही-सही मूल्यांकन हो।

महावीर के जीवन और सिद्धांतो की संक्षिप्त-सी चर्चा मैंने की। आवश्यकता इस वात की है कि हम केवल उनके यशोगीत ही न गाएं, अपितु उनके जीवन-आदर्शों व सिद्धातो को अपने जीवन का हिस्सा भी वनाएं। ऐसा करके ही हम उनके सच्चे अनुयायी कहलाने के अधिकारी हो सकते हैं।

अंधेरी (मुम्वई)
२१ जून १९५४

# ९. चारित्रिक गिरावट क्यों ?

भारतवर्ष को आजाद हुए सात वर्ष होने जा रहे है। पर आज भी चारों तरफ अभाव की चर्चा है। लोग कहते हैं, देश मे अनाज की कमी है, कपड़े की कमी है, शिक्षा की कमी है'' ' नाना दृष्टिकोण अभाव को देखने मे लगे हैं। इस प्रकार नाना कमियां सामने आती है। मेरी दृष्टि में आज सबसे बड़ी कमी चरित्र की है। हालाकि यह कहना तो सत्य के साथ न्याय नही होगा कि जन-जीवन चरित्र से बिलकुल शून्य हो गया है, तथापि इतना तो बहुत स्पष्ट है कि इन वर्षों मे उसकी मात्रा में बहुत कमी आई है। चरित्र के बीज मौजूद होने के बावजूद भी जन-जन की जीवन-उर्वरा मे वे बहुत कम अंकुरित हो रहे हैं। मैं मानता हू, आज राष्ट्र के समक्ष जितनी भी समस्याए है, उनमे यह प्रमुखतम समस्या है और अधिकांश समस्याओ का मूल है। जब तक यह समस्या समाहित नही होती, तब तक अन्यान्य समस्याओं को समाहित किया जा सके, यह संभव नही लगता।

प्रश्न पैदा होता है, जन-जीवन मे चारित्रिक गिरावट क्यो आई ? आप लोग कह सकते हैं कि अर्थाभाव इसका प्रमुख कारण है। मैं एकातत. इस कथन से असहमत नही हूं, क्योकि मनुष्य स्वभावतः अनैतिक या चरित्र-हीन नही है। अति अर्थाभाव व्यक्ति को इस ओर ढकेलता है। पर इतना सुनिश्चित है कि यह इसका मूल कारण नही है। इसलिए यदि अर्थाभाव को मिटाकर चारित्रिक गिरावट की इस ज्वलन्त समस्या का शत-प्रतिशत समाधान खोजने का प्रयास करेंगे तो आपको सफलता नही मिल सकेगी। आप ध्यान दे, यदि यही समाधान होता तो पश्चिमी देशो मे, जहा अर्थाभाव नही है, चारित्रिक गिरावट नही होती। पर हम देखते हैं कि वहा भी चारित्रिक गिरावट है। अनेक तरह की गलत प्रवृत्तियां वहा के जन-जीवन मे देखी जाती हैं। इसलिए यह प्रश्न अपने-आप दूसरी तरफ जाकर समाधान पाता है कि इसका मूलभूत कारण व्यक्ति की अति भोगवादी मनोवृत्ति और सग्रह की मानसिकता है, अर्थाभाव नही।

आज की जो जटिल स्थिति है, वह आपके और हमारे सामने बहुत स्पष्ट है। उसको चित्रित करने की अपेक्षा नही। अपेक्षा है, धार्मिक और

नैतिक निष्ठा वाली शक्तिया संगठित रूप में इसका अच्छे ढंग से मुकावला कर चरित्र और नैतिकता का वातावरण निर्मित करें। यदि यह प्रयत्न नही हुआ तो मुझे आशका है कि कही चरित्र और नैतिकता के ध्वंसावशेषो के नष्ट होने का खतरा पैदा न हो जाए। इसलिए इस दिशा मे गभीरता से चितन करने की आवश्यकता है। मेरा विश्वास है, जनसामान्य इस कार्य मे हमारा पूरा-पूरा सहयोग करेगा।

अन्धेरी (वम्वई)
२१ जून १९५४

# १०. मानवधर्म अपनाएं

भगवान महावीर ने कहा—दुनिया दुःख से छुटकारा चाहती है और दुःख स्वकृत है। उससे मुक्ति पाने के लिए अप्रमाद की आवश्यकता है। इस कथन के परिप्रेक्ष्य मे हम आज के युग की समस्याओ को वहुत अच्छी तरह से समझ सकते हैं और उनका समुचित समाधान प्राप्त कर सकते हैं। सभी समस्याए दुःख से जुड़ी हैं। उनका समाधान है अप्रमाद। किन्तु कठिनाई यह है कि व्यक्ति दु.ख से तो छूटना चाहता है पर प्रमाद से नही छूटता। ऐसा क्यों ? इसका कारण वहुत स्पष्ट है। मनुष्य को सही राह नही मिल रही है, सही मार्ग-दर्शन नही मिल रहा है। आप पूछेंगे, मार्ग क्या है? मार्ग है—धर्म। लेकिन दिक्कत यह है कि धर्म का कोई एक निश्चित स्वरूप सामने नही है। विभिन्न सम्प्रदायो और मान्यताओ के रूप मे वह लोगो के सामने आता है। इससे लोग उलझ जाते हैं कि वे किसको अपनाएं व किसको छोड़ें। हमारा प्रयास यह है कि हम जनता को उलझन से वचाएं और धर्म के मौलिक स्वरूप को प्रस्तुत करें। वह धर्म सम्प्रदायातीत, वर्गातीत और सभी प्रकार की संकीर्णताओं से मुक्त हो। ऐसा धर्म ही जनधर्म हो सकता हैं, मानवधर्म हो सकता है और जन-जन के लिए प्रमाद से उपरत होने की प्रेरणा हो सकता है। 'अणुव्रत' इसी धर्म का प्रारूप है। इस धर्म का हम अधिक-से-अधिक विकास करें, प्रचार और प्रसार करें। इसके विकास और प्रचार-प्रसार से सर्वधर्म-समभाव की भावना को व्यापने का वातावरण मिलेगा, विश्व-वन्धुत्व और विश्वप्रेम का आधार निर्मित होगा। और ऐसी स्थिति में दुःख की कोई समस्या नही रहेगी। सुख-प्राप्ति का प्रश्न, प्रश्न नही रहेगा। और इस प्रश्न के समाधान मे विविध प्रकार की समस्याओ का समाधान भी सहज रूप मे उपलब्ध हो जाएगा। शांति आकाश-कुसुम नही, वल्कि जीवन का एक हिस्सा वन सकेगी। अपेक्षा है, जन-जन अणुव्रत को समझे, उसके दर्शन को आत्मसात् करे और उसे जीवन-व्यवहार मे स्थान दे।

अन्धेरी (वम्वई)
२१ जून १९५४

## ११. अध्यात्म-पथ पर आएं

अणुव्रत-प्रार्थना की दो पंक्तियां है—

> अच्छा हो अपने नियमों से हम अपना संकोच करें।
> नहीं दूसरे वध-बंधन से मानवता की शान हरें॥

इनका अर्थ बहुत सीधा-सा है। अपनी आत्मा का दमन करें। आत्म-दमन ही मनुष्य की गरिमा के अनुरूप है। दूसरे लोग वध और बंधन के द्वारा हम पर काबू पाएं, यह हमारे लिए शोभास्पद नही है, गरिमामय नही है। हमारी शोभा और शान इसीमे है कि हम संयम-तप के द्वारा आत्म-नियंत्रण करें। मैं आपसे ही पूछना चाहता हूं, क्या आप अपने पर दूसरों का नियंत्रण पसन्द करते हैं ? नही करते। शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति हो, जो इसके लिए हामी भरे। जब पर-नियंत्रण पसन्द नही, स्वीकार नही, तब क्यों न आत्मानुशासन का मार्ग स्वीकार किया जाए, जिससे कि बाहरी नियंत्रण की अपेक्षा ही न पड़े, उसकी नौबत ही न आए।

### भौतिकवाद : अध्यात्मवाद

हमारे सामने दो मार्ग हैं—भौतिकवाद और अध्यात्मवाद। भौतिकवाद की मान्यता है—आवश्यकताओं को बढ़ाओ। जितनी अधिक आवश्यकताएं बढ़ेंगी, उतने ही अधिक आविष्कार होंगे। जितने अधिक आविष्कार होंगे, उतना ही अधिक पदार्थ का अभाव मिटेगा। पदार्थ का अभाव मिटेगा, इसका तात्पर्य है कि पदार्थों की प्रचुरता होगी। यह पदार्थ की प्रचुरता सुख का कारण बनेगी। इस मान्यता के ठीक विपरीत मान्यता है अध्यात्मवाद की—एक आवश्यकता की पूर्ति होने पर दूसरी आवश्यकता पैदा होगी। दूसरी की पूर्ति होने पर तीसरी। तीसरी की पूर्ति होने पर चौथी। चौथी की ······इस प्रकार यह आवश्यकता की शृंखला द्रौपदी के चीर की तरह आगे-से-आगे बढती रहेगी। इसका कही कोई अन्त नही है। लाभ से लोभ का परिवर्धन होता है। इसलिए अपेक्षा यह है कि आवश्यकताओं को घटाओ। लोभ को नियंत्रित रखो। लोभ ही दुःख का मूल है।

## अध्यात्म की दो भूमिकाएं

बन्धुओ ! दोनों मार्ग आपके सामने हैं। अब चिन्तन और निर्णय आपको करना है कि हमें कौन-सा मार्ग स्वीकार करना है, तय करना है। आप मुझसे पूछे तो मैं कहना चाहूंगा कि आप अध्यात्मवाद को स्वीकार करे, क्योंकि आध्यात्मिक सुख ही वास्तविक सुख है, शाश्वत सुख है, जबकि भौतिक सुख, सुख नही, सुख का विभ्रम है, मरीचिका है। आज जो सुख महसूस होता है, वह कल देखते-देखते दुःख मे बदल जाता है। पर अध्यात्मवाद को स्वीकार करने की बात सुन आपको चौंकने की जरूरत नही है। साधु बनना ही अध्यात्म-पथ का स्वीकरण नही है। मैं बहुत अच्छी तरह से जानता हूं कि सब साधु नहीं बन सकते, कोई-कोई व्यक्ति ही इस भूमिका मे आ सकता है। हालांकि साधु बनना अपने-आपमे महान् सौभाग्य की बात है, पर यह सौभाग्य किसी-किसी का ही उदित हो पाता है। अधिकांश प्राणी तो सामान्य गृहस्थ की भूमिका को ही जी पाते हैं। पर गृहस्थ की भूमिका में रहकर भी व्यक्ति एक सीमा तक तो अध्यात्म-पथ को स्वीकार कर ही सकता है। भगवान महावीर ने इसी दृष्टिकोण के आधार पर अध्यात्म-पथ को दो भागो मे विभक्त कर दिया—महाव्रत और अणुव्रत। जिनकी भौतिकता से सर्वथा उपरत होने की क्षमता होती है, सम्पूर्ण त्याग का जीवन जीने की तैयारी होती है, वे महाव्रती यानी साधु बनते हैं। जिनकी क्षमता इस सीमा तक विकसित नही होती, जो भौतिकता से सर्वथा परे नही हो सकते, भोग को पूर्ण रूप से नही छोड सकते, उनके लिए अणुव्रत का मार्ग है। जैसा कि मैंने कहा, महाव्रती—साधु बनना तो बडे सौभाग्य की बात है ही, पर अणुव्रती बनना भी महत्त्वपूर्ण है। व्यक्ति यदि इस सीमा तक भी आध्यात्मिकता को स्वीकार करता है तो यह उसके भविष्य को उज्ज्वल बनाने का पथ प्रशस्त करती है। अणुव्रती बनने का सीधा-सा अर्थ है—अध्यात्म की ससीम साधना। पर इसमे भी क्रमशः भौतिकता को घटाते हुए आध्यात्मिकता को विकसित करने का लक्ष्य व्यक्ति के सामने स्पष्ट रहना चाहिए।

## अणुव्रती संघ

भगवान महावीर द्वारा दिखाए गए अणुव्रत दर्शन की पृष्ठभूमि पर ही अपने जनता के सामने 'अणुव्रती सघ' की एक योजना रखी है। इस योजना के माध्यम से हम चरित्र-निर्माण का कार्य करना चाहते हैं, क्योंकि चरित्र-निर्माण आज के युग की सबसे बड़ी अपेक्षा है। इस युग मे जितना ह्रास चरित्र का हुआ है, उतना शायद किसी भी चीज का नही हुआ है। सूक्ष्मता से देखा जाए तो इस योजना की क्रियान्विति के गर्भ मे समाज,

राष्ट्र और विश्व की विभिन्न समस्याओं का समाधान है और आत्मा का अभ्युदय तो स्पष्ट रूप से है ही। इसलिए आप सबसे यही अपेक्षा है कि आप अणुव्रती बनकर इस योजना को सफल बनाने में अपना सक्रिय सहयोग प्रदान करें।

माटूगा (बम्बई)
२२ जून १९५४

# १२. व्यक्ति-सुधार ही समष्टि-सुधार है

मैं लोगों के मुंह से इस आशय की शब्दावली बराबर सुन रहा हूं कि मानवता का ह्रास होता जा रहा है, नैतिक मूल्यों की कमी होती जा रही है। सचमुच यह एक गभीर स्थिति है। यदि मानवता समाप्त हो गई, नैतिक मूल्य विखडित हो गए तो फिर मनुष्य के पास रहेगा ही क्या। अर्थ, सत्ता आदि से सम्पन्न होकर भी वह महादरिद्र हो जाएगा। सभी प्रकार की सपन्नताएं मिलकर भी उसे सच्चे मानव की प्रतिष्ठा प्रदान नही कर सकेंगी। इसलिए यह नितात अपेक्षित है कि इस मानवता की हर कीमत पर सुरक्षा की जाए; नैतिक मूल्यो को अपनी सही प्रतिष्ठा प्राप्त हो।

## जल ! तू नीचे क्यों जाता है ?

कहा जाता है कि एक बार महाराज भोज को महाकवि कालिदास के आचरण पर सदेह हो गया। समय पर कालिदास जब राजसभा में आए तो उन्हे देखकर भोज ने जल को सबोधित करते हुए व्यंग्योक्ति मे कहा—

**शैत्यं नाम गुणस्तवैव सहजं स्वाभाविकी स्वच्छता,**
**किं ब्रूमः शुचितां भवन्ति शुचयः स्पर्शेण यस्याऽपरे।**
**किं वाऽत परमच्युता स्तुतिपदं यज्जीविनां जीवनं,**
**त्वं चेन्नीचपथेन गच्छसि पयः कस्त्वां निरोद्धुं क्षमः॥**

—जल तू कैसा है, मैं क्या बताऊं। मनुष्य को शीतलता प्रिय है और वह तेरा सहज गुण है। दुनिया स्वच्छता को चाहती है और तू स्वयं मे स्वच्छ है तथा औरो को स्वच्छ बनाता है। दुनिया तेरे स्पर्श से निर्मल होना चाहती है। तू दुनिया के प्राणियो का जीवन-आधार है। यदि तू नही होता तो प्राणी-जगत् खत्म हो जाता। जल ! इतना उच्च होता हुआ भी तू नीचे क्यों जाता है ? (जल का प्रवाह नीचे की ओर ही चलता है।) अगर तेरे जैसा सन्मार्गी भी नीचे जाएगा तो दूसरों की बात ही क्या है।

## पराया सुख लूटना पाप है

बन्धुओ ! आज कि स्थिति के परिप्रेक्ष्य मे इस बात को समझने का प्रयास करें। आज मनुष्य जैसा उच्च प्राणी भी जब नीचे गिरता जा रहा है, अपनी गुणात्मकता खोता जा रहा है, तब अन्य प्राणियो की तो बात ही क्या।

भारत की प्राचीन संस्कृति आज जन-जीवन से विदा लेने जा रही है। पर लोगों को इसकी कहां चिता है। उनको तो चिता है धन की। उन्हें चिता है अपने सुख को बटोरने की। भले उसे बटोरने के कारण दूसरे दु:खी बनें। पर आदमी को इस नीतिगत सिद्धांत को नही भूलना चाहिए कि अपने सुख के लिए दूसरो के सुख को लूटना अन्याय है, पाप है। माना कि किसी के सुख का रक्षण करना किसी के वश की बात नही है, पर यह तो वश की बात है ही कि वह स्वयं किसी को दु:खी नही बनाएगा, उसके सुख को नही लूटेगा। यदि किसी व्यक्ति के द्वारा ऐसा आचरण होता है तो मानना चाहिए कि वह अपनी मानवता को खो रहा है, नैतिक-मूल्यो की अनदेखी कर रहा है। सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए तो दूसरे को सुख से वंचित करने के निमित्त व्यक्ति स्वयं ही सुख से वंचित होता है। दूसरे को पीड़ा पहुंचाकर व्यक्ति प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से स्वयं अपने लिए ही पीड़ा पैदा करता है।

## सुधार की शुभ शुरुआत कहां से ?

जैसा कि मैंने प्रारम्भ में कहा, लोग मानवता के पतन और नैतिक मूल्यो की कमी को बहुत अच्छी तरह से महसूस कर रहे हैं। इस संदर्भ में चिता भी व्यक्त करते हैं, सुधार की आवश्यकता भी महसूस करते हैं। पर प्रश्न है, सुधार कैसे हो ? सुधार का प्रारम्भ कहा से हो ? मेरी दृष्टि में सुधार का प्रारम्भ स्वयं से होना चाहिए। समाज-सुधार, राष्ट्र-सुधार और विश्व-सुधार की बातो को एक बार परे रखकर व्यक्ति-व्यक्ति स्वयं के सुधार की बात सोचे। स्वयं से शुभ शुरुआत करे। वस्तुत: व्यक्ति का सुधार ही समाज का सुधार है, राष्ट्र का सुधार है। समाज-सुधार और राष्ट्र-सुधार की परिकल्पना व्यक्ति-सुधार के आधार पर ही साकार हो सकती है। आप इस बात को समझने का प्रयास करे कि समाज, राष्ट्र और विश्व की मौलिक भित्ति व्यक्ति ही तो है। व्यक्ति-व्यक्ति के समूह के ही ये भिन्न-भिन्न स्तर हैं। इसलिए व्यक्ति-सुधार के बिना समाज-सुधार, राष्ट्र-सुधार और विश्व-सुधार की बात करने की कोई सार्थकता नही है।

## बम्बई क्यों आया हूं ?

मुझे बम्बई की सीमा मे प्रवेश किए लगभग दो सप्ताह होने वाले है। इस अवधि मे अनेक लोगों ने मुझसे प्रश्न किया है, आप बम्बई क्यों आए हैं ? उनके उत्तर मे मैं कहना चाहता हूं कि मैं बम्बई की गगनस्पर्शी अट्टालिकाओ को देखने के लिए नही आया हूं। समुद्री दृश्यो तथा अन्यान्य दृश्यो को देखना भी मेरे यहां आने का उद्देश्य नही है। फिर मैं यहां क्यों आया हू ? मेरे यहा आने का मूलभूत उद्देश्य है—जन-जीवन का उत्थान करना। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए यहा के कार्यकर्ताओ को अणुव्रत

आंदोलन के मिशन से परिचित कराना; अणुव्रत आंदोलन का व्यापक स्तर पर प्रचार-प्रसार करना। वम्वई पहुचने के साथ मेरी एक यात्रा (पदयात्रा) सम्पन्न हो गई है, पर अणुव्रत के प्रचार-प्रसार की दूसरी यात्रा की शुरुआत करनी है। आप सव अणुव्रती वनकर इस यात्रा में सहयोगी वनें, यही मेरी अभिप्रेरणा है और यही मेरे जैसे अकिंचन साधु का स्वागत है।

माटूंगा (वम्वई)
२७ जून १९५४

## १३. अणुव्रत आंदोलन—एक आध्यात्मिक आंदोलन

### आत्म-नियंत्रण क्यों ?

वरं मे अप्पा दन्तो, सजमेण तवेण य ।
माहं परेहिं दम्मंतो, वधणेहिं वहेहि य ॥

यह भगवद् वाणी है। मानव-मानव के हृदय मे निवास करने योग्य उपदेश है। इसका अर्थ बहुत सीधा-सा है—व्यक्ति यह चिंतन करे कि मेरे लिए यही श्रेयस्कर है कि मैं सयम और तप के द्वारा अपने पर नियंत्रण करूं। वाहर के वध-बंधन से मेरे पर नियंत्रण हो, यह मेरे लिए शोभास्पद नही है। यदि मानव अपनी इस गरिमा को समझ ले तो उसे बुराई छोडने के लिए बाध्य नही होना पड़े। हम जानते हैं, चोर जव चोरी करता है तो उसका क्या दुष्परिणाम होता है। राजतत्र से उसे डंडे और जेल की सजा मिलती है। उसकी चोरी छुडाने का प्रयत्न किया जाता है। नियत्रण दोनों तरफ से होता है। बस, अन्तर इतना ही है कि एक नियंत्रण आत्मा के उत्थान के लिए होता है व स्वेच्छा से होता है, जवकि दूसरा नियत्रण इच्छा न होते हुए भी वाध्य होकर करना होता है। इसमे आत्मोत्थान की कोई भावना या लक्ष्य नही होता। मैं आपसे पूछना चाहूंगा, आप इन दोनो विकल्पो मे से कौन-सा विकल्प पसन्द करते है ? दूसरो द्वारा जवरदस्ती थोपा गया नियत्रण या अपने द्वारा अपना नियन्त्रण ? जहा तक मैं सोचता हूं, पक्षी भी पराये बंधन में रहना नही चाहता। वह भी सदा यही चाहता है कि मैं आकाश मे स्वच्छन्द विहरण करूं, पेडो की डालियो पर वैठू, तालाबो और झीलो का स्वच्छ जल पीऊं। फिर आप तो बुद्धिसम्पन्न प्राणी हैं, सृष्टि के सर्वश्रेष्ठ प्राणी हैं। तव दूसरों का नियत्रण चाहेगे ही कैसे। अत: आप यदि सुख से जीना चाहते हैं, मानवीय गरिमा को सुरक्षित रखना चाहते है और स्वतत्रता का महत्त्व समझते है तो आत्म नियत्रण सीखे। मै मानता हू, यह आत्म-नियन्त्रण समस्त सासारिक रोगो की एक रामवाण दवा है, सव समस्याओ का एक समाधान है, जीवन का नवनीत है। इसलिए आप लोग इस भगवद् वाणी को केवल सुनने के लिए ही न सुने, मनन और आचरण की दृष्टि/लक्ष्य भी रखे।

## समाधान के दो मार्ग

कहा जाता है कि आज का युग समस्याओं का युग है। वात सर्वथा गलत तो नही है। निश्चित ही आज युग के सामने विभिन्न प्रकार की समस्याए हैं। पर एक वात वहुत अच्छी तरह से समझ लेने की है कि कोई भी भगवान समस्याओ के समाधान के लिए धरती पर नही आएगे। आपको ही समस्याओ का समाधान करना होगा। आप पूछेंगे, समस्याओ का समाधान कैसे करे ? समाधान के दो मार्ग हैं। पहला है—भ्रष्टाचार का यानी अपनी अनीति का। दूसरा है—संयम का। हालाकि सयम से होने वाला समाधान दीखने मे कठिन दिखाई देता है, पर आत्मानुभव मे सुगम और मधुर है। इसके विपरीत अनीति से होनेवाला समाधान पहले सुगम तथा वाद मे कठिन और कटुकपरिणामी है। स्थूल दृष्टि से देखा जाए तो व्यक्ति को दोनो ओर विषमता नजर आएगी—एक में पहले सुख और वाद मे कष्ट तथा दूसरे में पहले कष्ट और वाद में सुख। इस प्रकार दोनो की एक सरीखी-सी स्थिति सामने आती है। परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए तो परिणाम मे भारी अन्तर नजर आएगा। एक मे सुख मर्यादित है और वह भी क्षणिक और भौतिक, जवकि दूसरे मे असीम और शाश्वत आत्मिक सुख की अनुभूति है।

## भौतिकवाद बनाम अध्यातमवाद

पहला सुख भौतिकवाद से जुडा है और दूसरा सुख मंयम यानी अध्यात्मवाद से जुडा हुआ है। भौतिकवाद आवश्यकताओं को वढाने की वात कहता है। आवश्यकताएं वढ़ेगी तो नए-नए अविष्कार होगे। इससे उत्पादन वढेगा। उत्पादन वढ़ने से पदार्थो का अभाव मिट जाएगा। पदार्थों का अभाव नही रहेगा तो दु ख भी मिट जाएगा। फलत. आदमी सुखी वन जाएगा। इसके ठीक विपरीत स्वर अध्यान्मवाद का है। वह आवश्यकताओ को वढ़ाने के स्थान पर उन्हे घटाने और नियन्त्रित करने पर वल देता है। वह कहता है—एक आवश्यकता की पूर्ति से दो और आवश्यकताओ को जनम होता है। उन दो की पूर्नि होने पर अन्य चार आवश्यकताए जनम जाती हैं। यह क्रम आगे-से-आगे चलना रहता है, क्योकि आवश्यकताओ की कही कोई सीमा नही है। वे अर्स'म हैं. अनन्त हैं। ज्यो-ज्यो लाभ वढता है, व्यक्ति का लोभ वढता जाता है। यह लोभ ही दु.ख का मूल है। इसलिए आवश्यकताओ को नियन्त्रित और कम करना अपेक्षित है।

## स्वयं की पहचान जरूरी है

हालाकि दोनो मार्गों मे से व्यक्ति किसी भी मार्ग का चुनाव करने के

लिए स्वतंत्र है, पर मैं आपको अध्यात्मवाद को स्वीकार करने की ही प्रेरणा दूंगा। आप पूछेंगे, अध्यात्मवाद क्या है? अध्यात्मवाद आत्मा और चेतन के उत्थान की बात है। उसमें मानववाद की कल्पना है, क्योकि मानव चेतनावान् है। अध्यात्मवाद को अपनाने की निष्पत्ति यह होगी कि आप चेतन के पुजारी बनेंगे, जड के दास नही बनेंगे। चेतन का पुजारी बनने का फलितार्थ है—स्वय की पहचान, जबकि जड का दास बनने का फलितार्थ है—स्वयं की विस्मृति। जो व्यक्ति स्वयं की सही-सही पहचान कर लेता है, वह बहुत कुछ प्राप्त कर लेता है। एक अपेक्षा से सब कुछ प्राप्त कर लेता है।

गडेरिया भेड-बकरियों को लेकर जंगल में जाता। एक दिन वह काफी गहरे जंगल में पहुंच गया। वहां उसने एक झाड़ी के पास एक बाघ के बच्चे को देखा। वह बहुत छोटा था और देखने मे अति सुन्दर। वह उसे उठाकर घर ले आया और भेड़-बकरियो के साथ रखकर उसका पालन-पोषण करने लगा। जल्दी ही वह बाघ का बच्चा भेड-बकरियों मे एकदम घुलमिल गया। उनकी तरह वह भी न केवल घास ही खाने लगा, बल्कि उसकी सारी वृत्तियां भी भेड-बकरियो की-सी बन गईं। मानो वह भेड-बकरी ही बन गया। एक दिन ऐसा हुआ कि जगल में बाघ मिल गया। बाघ ने भेड-बकरियो को देखा तो गर्जना की। बाघ का बच्चा, जो कि भेड़-बकरियो के झुंड के साथ था, बाघ के रंग-रूप, चाल-ढाल को स्वयं के रंग-रूप, चाल-ढाल से मिलती देखकर चौका — क्या मैं भी ऐसा नही कर सकता? क्षण-भर मे ही उसका बाघत्व जागृत हो उठा और उसने भी गर्जना की। बस, उसे अपने असली स्वरूप का भान हो गया। और इस भान के साथ ही उसने एक-दो भेड़-बकरियों को अपना शिकार बना लिया। अब वह घास कैसे खा सकता था। भेड-बकरी बनकर कैसे रह सकता था। शेष भेड-बकरियां भय से कांपती हुई दूर चली गई। वह अपने शिकार के साथ वहीं रह गया। अब उसका प्रवास जंगल में ही होने लगा।

बन्धुओ! यह एक किस्सा अवश्य है, पर इसमें बहुत गहरा तथ्य छुपा है। जब तक व्यक्ति अपने स्वरूप से अनभिज्ञ रहता है, तब तक वह अपनी प्रतिष्ठा को प्राप्त नही कर सकता। जिस दिन उसे अपने स्वरूप का यथार्थ बोध हो जाता है, फिर वह अपनी दुर्गति मंजूर नही कर सकता। पर कठिनाई यह है कि आत्म-स्वरूप की पहचान करानेवाला झट-पट मिलता नही। यदि सौभाग्य से मिल जाए तो स्वरूप-बोध होते समय नही लग सकता। साधु-संत स्वयं आत्मस्वरूप को पहचानने की साधना करते हैं और जन-जन को इस दिशा मे प्रेरित करते हैं। अध्यात्मवाद स्वयं की पहचान का ही मार्ग है।

## मानवता के सांचे में ढलें

अध्यात्मवाद को अपनाने की बात मैंने कही। पर इसका अर्थ यह नहीं कि सबको साधु बनना होगा। हालांकि साधु बनना बहुत ही ऊंची बात है। पर इस ऊंचाई तक सब नही पहुंच सकते। कुछ ही लोग इस शिखर तक पहुंच सकते हैं। आप कहेंगे, फिर अध्यात्मवाद को अपनाने की बात कहने का तात्पर्य ? तात्पर्य यह कि आप अध्यात्म की ओर उन्मुख बनें, उस दिशा में गति प्रारम्भ करें। अध्यात्मोन्मुख बनने का, उस दिशा मे गति प्रारम्भ करने का अर्थ है कि आपका जीवन मानवता के सांचे मे ढले। आपके जीवन की कोई भी प्रवृत्ति मानवता के प्रतिकूल न हो। अध्यात्मोन्मुख बनने की यह न्यूनतम सीमा है। मैं समझता हूं, इस सीमा तक अध्यात्मोन्मुख होने में किसी को कठिनाई नही होनी चाहिए। इस सीमा से धीरे-धीरे आगे बढ़ता हुआ व्यक्ति एक दिन साधुत्व के शिखर को भी छू सकता है।

## अध्यात्म-साधना के दो स्तर

जैन तीर्थंकर इस तथ्य से सुपरिचित थे कि व्यक्ति-व्यक्ति की शक्ति, सामर्थ्य, आस्था आदि मे बहुत अन्तर होता है। इसलिए उन्होंने अध्यात्म-साधना को दो भागो में विभक्त कर दिया—महाव्रत और अणुव्रत। जिन व्यक्तियो में विशेष शक्ति और सामर्थ्य होता है, जिनकी आस्था घनीभूत होती है, वे महाव्रतो को स्वीकार करते हैं, साधु बनते हैं। जो साधु बनने की क्षमता नही रखते, जिनकी आस्था कमजोर होती है, उनके लिए अणुव्रत का मार्ग है। वे अहिंसा, सत्य आदि की यथाशक्य साधना का व्रत स्वीकार करते हैं।

## अणुव्रती और आस्था

भगवान महावीर के अणुव्रत-दर्शन की पृष्ठभूमि पर हमने युगीन परिप्रेक्ष्य में 'अणुव्रती-सघ' की योजना प्रस्तुत की। कुछ लोग कहते हैं कि 'अणुव्रती-सघ' की परियोजना में आस्था को स्थान नही दिया गया है। इस सदर्भ में मैं इतना-सा बता देना पर्याप्त समझता हूं कि व्रत का आधार तो आस्था ही है। जिस व्यक्ति के अन्तर् मे व्रत के प्रति आस्था ही नही होगी, वह व्रती बन ही कैसे सकता है; खुलावट के मार्ग को छोड़कर आत्म-नियत्रण/सयम के मार्ग पर चरणन्यास कर ही कैसे सकता है। अणुव्रती बनने के लिए भी यह अनिवार्यता है, भले आस्था या श्रद्धा जैसा कोई शब्द वहां न भी आए। आप गहराई से ध्यान दें तो पाएगे कि व्रत स्वीकार करने मे ज्ञान की उतनी आवश्यकता नही है, जितनी श्रद्धा की है। इस दृष्टि से मुझे यह कहने मे किंचित् भी कठिनाई नही कि अणुव्रती वही बन सकता है, जिसकी व्रत/संयम/संवर मे आस्था है।

## चरित्र-उत्थान सर्वाधिक जरूरी है

बन्धुओ ! आज जितना पतन चरित्र का हुआ है, उतना शायद किसी भी चीज का नही हुआ है। इस स्थिति मे सर्वाधिक जरूरी कार्य है—चरित्र-उत्थान। इसी लक्ष्य को सामने रखकर हमने 'अणुव्रती सघ' के रूप में नियमो की व्यावहारिक सूची जन-जन के समक्ष रखी है। 'सघ' शब्द सुनकर आपको चौकने की जरूरत नही है। हालांकि 'सघ' शब्द आज जिस अर्थ मे व्यवहृत है, उसे देखते हुए आपका चौकना अस्वाभाविक भी नही है। पर यहा 'संघ' शब्द संप्रदाय के अर्थ मे प्रयुक्त नही है। आप पूछेगे, फिर संघ शब्द का सन्दर्भ क्या है ? एक-एक अणुव्रती मिलकर अणुव्रती सघ बना है। इस प्रकार का सघ किसी के लिए भी कठिनाई का कारण नही होना चाहिए।

## व्रत क्यों ?

कुछ व्यक्तियो का तर्क है कि नियमो में लोगो को क्यो बाधा जाता है ? यदि हृदय शुद्ध है, सिद्धात के प्रति आस्था है तो फिर सकल्प की क्या अपेक्षा है ? वे 'मन चंगा तो कठौती में गंगा' की उक्ति का समर्थन करते हैं। हालाकि 'मन चंगा तो कठौती मे गगा' की बात एक अपेक्षा से ठीक हो सकती है, पर व्रत का अपना स्वतत्र मूल्य है। उसे किसी भी स्थिति मे नकारा नही जा सकता। जब भौतिक पदार्थों का आकर्षण सामने आता है, बाहरी प्रतिकूल दबाव आता है, तब व्रत/सकल्प ही व्यक्ति को डिगने से बचाता है। सकल्प मे बधा व्यक्ति सहसा खुल नही पाता। फिर, जिसकी साक्षी से उसने सकल्प ग्रहण किया है, उसकी आंख की लज्जा भी उसे विचलित होने से बचाने मे निमित्त बनती है। अगर संकल्प नही होता है तो समय पडने पर व्यक्ति के हृदय की शुद्धि एक तरफ पड़ी रह जाती है, सिद्धात के प्रति आस्था भी प्रभावहीन हो जाती है। परिणामत: व्यक्ति अपने स्वीकृत पथ से इधर-उधर हो जाता है।

कुछ दिनो पहले की बात है। एक अमेरिकन महाशय मेरे पास आए। बातचीत हुई। वार्तालाप के अन्त मे मैंने उनसे कहा—"आप कोई ऐसा व्रत स्वीकार करे, जिससे यह सत्संग आपके लिए यादगार बन जाए।" छूटते ही वे बोले —"आप व्यक्ति को व्रत की सीमा मे बाधना क्यो चाहते हैं ?" मैने कहा—"हम व्यक्ति को व्रत दिलाते हैं, इसका अर्थ यह नही कि उसके समक्ष कोई बाध्यता की स्थिति पैदा करते हैं। हमारा काम तो व्यक्ति को असयम से उपरत होने के लिए प्रेरित करना है। व्रत तो हृदय-परिवर्तन का फल है। यही कारण है कि प्रेरणा के बावजूद सभी लोग व्रती नहीं बनते। मात्र वे ही लोग व्रत अगीकार करते हैं, जिनका हृदय

परिवर्तित हो जाता है; हमारी प्रेरणा उनकी स्वय की प्रेरणा वन जाती है। इसलिए इसमे वाध्यता की कोई वात नही रहती। और वाध्यता की वात नही, तव व्यक्ति वधकर भी व्रत से वधता नही। वस्तुत. व्रत का वधन आत्म-नियत्रण है और आत्म-नियत्रण के रूप मे वधन वुरा नही है, वल्कि अच्छा है। वधन वुरा वही है, जो दूसरो के द्वारा थोपा जाए। और थोपा जाने वाला कोई तत्त्व अपना कोई नैतिक मूल्य नही रखता। वह तो व्यवस्थागत पावदी है, मजवूरी है।"

## प्रसंग रामायाण का

वन्धुओ! आप भी इस तथ्य को हृदयगम करे। व्रत द्वारा आत्म-नियत्रण करना अपना वहुत वडा हित साधना है। एक प्रकार से स्वय को कवचित करना है। इसलिए इस दिशा मे व्यक्ति को सदा उत्साहित रहना चाहिए। रामायण का प्रसग है—रावण सीता को हर के ले गया। सीता के सामने वडी विकट स्थिति थी। पर उस विकट स्थिति मे भी वह जीवित रह सकी। रहस्य क्या था? उसका रहस्य या कारण था—रावण की ली हुई एक प्रतिज्ञा। रावण ने यह प्रतिज्ञा ले रखी थी कि किसी भी स्त्री के प्रेम न करने की स्थिति मे वह उसके साथ वलात्कार नही करेगा। इस प्रतिज्ञा लेने के पीछे भी एक कारण था। रावण के अनुज विभीषण ने एक प्रसंग मे ज्ञानी सतो के समक्ष जिज्ञासा रखी थी कि रावण का अवसान कैसे होगा? उत्तर मिला कि उसका अवसान परस्त्री सम्वन्धी दोष से होगा। रावण ने सुना तो उसने डर कर यह प्रतिज्ञा ले ली कि जो स्त्री उसके साथ प्रेम नही करेगी, उसके साथ निजी तृप्ति के लिए वह वलात्कार नहीं करेगा। व्यक्ति प्रतिज्ञा चाहे कैसे भी क्यो न ले, पर प्रतिज्ञा तो आखिर प्रतिज्ञा ही होती है। इस प्रतिज्ञा ने रावण को सीता के साथ वलात्कार करने से रोके रखा। सीता अपने पतिव्रत धर्म पर अटल रही और रावण अपनी प्रतिज्ञा पर। इस प्रकार महीनो का समय निकल गया। आखिर जव रावण को लगा कि सीता किसी भी स्थिति मे अपने पतिव्रत धर्म से विचलित नही होने वाली है, मुझे नही अपनाने वाली है तो उसके धैर्य का वाध टूट गया। परिणामत अपनी स्वीकृत प्रतिज्ञा को तोडकर सीता के साथ वलात्कार करने की वात उसके मस्तिष्क मे रेगने लगी। फिर क्या था। दो दिन वाद ही रावण को मृत्यु को प्राप्त होना पडा। आप देखे, प्रतिज्ञा तो अभी टूटी ही नही थी, मात्र विचार के स्तर पर ही उसमे टूटन शुरू हुई थी, फिर भी उसने अपना परिणाम दिखा दिया। इसके समानान्तर ही इतने समय तक रावण पतित होने से वचा रहा—यह भी व्रत का ही प्रभाव था। यदि उसके द्वारा यह प्रतिज्ञा ग्रहण की हुई नही होती तो सभव है कि

वह बहुत शीघ्र पतित हो जाता। अतः मानना होगा कि प्रतिज्ञा/व्रत/संकल्प में बहुत बड़ी शक्ति होती है। जो व्यक्ति अपनी स्वीकृत प्रतिज्ञा/व्रत/संकल्प को जितनी दृढ़ता और निष्ठा के साथ निभाता है, वह उतना ही अधिक लाभान्वित होता है। अणुव्रती भाई-बहिनो से मै कहना चाहता हूं कि वे अपने स्वीकृत व्रतों को आत्म-निष्ठा एव दृढ़ता के साथ निभाने की दृष्टि से सदैव जागरूक रहे।

## नियमों का भावनात्मक पालन हो

अणुव्रती भाई-बहिनो का ध्यान एक बात की तरफ और आकर्षित करना चाहता हूं। वे व्रतो के शब्दों की ओर ही न देखे, अपितु उनके पीछे रही भावना को गहराई से पकड़ने की चेष्टा करे, उसके अनुसार चलने का प्रयत्न करे। उदाहरणार्थ—रिश्वत नहीं लेना। शब्द-रचना तो मात्र रिश्वत न लेने तक ही सीमित है, पर भावना यह है कि अणुव्रती न तो रिश्वत ले और न दूसरो को दे। आज सरकारी कर्मचारियों के लिए रिश्वत लेना तो सामान्य व्यवहार-सा हो गया है। ऐसा करते उन्हे तनिक भी हिचकिचाहट नही होती। इने-गिने कर्मचारी ही ऐसे मिलेंगे, जो इस बुराई से बचे हैं। इस स्थिति को देखते हुए यह सोचा गया कि कही अणुव्रती का गृहस्थ-जीवन दुरूह न हो जाए, इसलिए नियम की शब्द-रचना केवल रिश्वत न लेने तक ही सीमित रखी जाए। पर भावनात्मक अर्थ यह है कि अणुव्रती को रिश्वत की बुराई से हर स्तर पर बचना चाहिए, क्योकि रिश्वत लेना जितना बुरा है, उतना ही बुरा रिश्वत देना भी है। इसलिए अणुव्रती नियमों की शब्दावली तक ही अपने को सीमित न रखे, उनके पीछे रहे भावों को समझकर उनका उसी रूप मे पालन करें। तभी उनका उद्देश्य पूरा हो सकेगा और व्रत टिक सकेगे।

# १४. परिवर्तन

परिवर्तन किसी भी पदार्थ की एक अनिवार्य स्थिति है। कोई भी पदार्थ इसका अपवाद नही हो सकता। और यह परिवर्तनशीलता कोई बुरी बात भी नही है, बल्कि अच्छी है, क्योकि परिवर्तन के बिना जीवन-निर्माण नही होता। दूसरे शब्दों मे परिवर्तन जीवन-निर्माण की एक अनिवार्य प्रक्रिया है। आज बच्चा पैदा हुआ। अब वह यदि सदा बच्चा ही बना रहे, उसमे परिवर्तन न आए, तरुणाई न फूटे तो जीवन किस काम का। यह अवस्था का बदलाव ही परिवर्तन है। बच्चे का बचपन समाप्त होता है और तरुणाई आती है, इस परिवर्तन को कौन बुरा कह सकता है। हा, परिवर्तन के साथ पदार्थ की मौलिकता नष्ट होती है तो वह परिवर्तन नहीं कहा जा सकता। वह तो सर्वनाश है। बचपन समाप्त होकर यदि अमानवीयता की स्थिति आती है, मानवता का नाश होता है तो वह परिवर्तन कैसा।

समय के साथ दुनिया मे भी परिवर्तन आया। वह अशांति से गुजरती हुई शांति के सदेशवाहक—संतो की ओर आकृष्ट हुई। सतो के नजदीक आई। साधु-संतों में भी परिवर्तन आया। वे भी जनता के नजदीक पहुंचे। आप पूछ सकते हैं, क्यों? साधु-संतों को जनता से क्या लेना-देना था? उन्हें दुनिया से क्या मतलब था? क्या लोगो के पास इसलिए नही पहुंचा जाता कि उनकी नामवरी फैले? पर बात ऐसी नहीं है। गड्ढे में गिरे हुए प्राणी को बाहर निकालने के लिए झुकना ही पड़ता है, अन्यथा उसे बाहर कैसे निकाला जा सकता है। जब जनता स्वयं शांति की भूख लिए चलती है, सुख चाहती है, सत्पथ पर बढ़ना चाहती है तो साधु-संतो का यह काम होता है कि वे जनता का मार्ग-दर्शन करे। उसे शांति और सुख की ओर ले चले, न कि चुपचाप बैठे रहे। इसमे नामवरी की कसी भावना। ऐसा सोचना चिंतन का दारिद्रय है।

## शांति और सुख का मार्ग—अणुव्रत

जनता की शांति की चाह, सुख की आकांक्षा देख हमने भी जनता को एक रास्ता दिखाया है। वह रास्ता है—अणुव्रत आंदोलन। यह प्रसन्नता की बात है कि जनता साम्प्रदायिक मनोवृत्ति और जाति-पांति के संकीर्ण

विचारो से क्रमश छूटती जा रही है और व्यापकता की दिशा में आगे बढ रही है। इसी का परिणाम है कि अणुव्रत आंदोलन की योजना को लोग ध्यानपूर्वक सुन रहे है, चितन और मनन कर उसे जीवनगत बना रहे हैं। पिछले पाच-छह वर्षो की अवधि मे जहा लाखो-लाखो लोगो ने इस आदोलन की योजना को सुना है, पढा है, वही हजारो-हजारों लोगो ने उसे स्वीकार भी किया है। इस प्रकार इस योजना के रूप में शाति और सुख का एक उन्मुक्त मार्ग सबके सामने आ गया है। यदि लोगो की मनोवृत्ति साम्प्रदायिक और जाति-पाति के भेदभाव की रहती तो यह कार्य सभव नही था।

एक समय था, जब साप्रदायिक मनोवृत्ति के कारण हम लोगों का गलत परिचय दिया जाता था। तेरापंथ के बारे मे अनेक प्रकार की भ्रांतियां फैलाई जाती थी। उसकी मान्यताओ को तोड़-मरोड़कर अयथार्थ रूप मे रखा जाता था। यही कारण है कि तेरापंथ और तेरापथ की मान्यताओं के प्रति एक दूषित वातावरण बना। तेरापथ के आचार्यों तथा साधु-साध्वियो को निम्नस्तरीय आलोचनाओ-प्रत्यालोचनाओं से होकर गुजरना पड़ा। हालाकि वह विष अब भी कही-कही देखने को मिलता है, तथापि इतना स्पष्ट है कि वातावरण मे काफी बदलाव आया है। असलियत प्रकट हो रही है और लोगो की भ्रांतियां टूट रही हैं। भला अच्छी चीज को कोई भी समझदार व्यक्ति कैसे ठुकरा सकता है। यही कारण है कि आज सभी वर्गों के लोग बडी भावना के साथ हमारे सम्पर्क मे आते हैं और जीवन की शाति और सुख का मार्ग-दर्शन प्राप्त करते हैं।

बम्बई मे मेरा पहली बार ही आगमन हुआ है। यहा की जनता प्रबुद्ध है। पर उसकी यह प्रबुद्धता तभी सार्थक है, जब वह आत्मोदय मे हेतुभूत बने। साधु-सतो के जीवन और उपदेश से आप लोग आत्मोदय की प्रेरणा ले, आत्म-उत्थान के तत्त्व को ग्रहण करे और आत्मोदय की दिशा मे गति करे। निश्चित ही आपके जीवन मे सुख और शाति की धार बह जाएगी।

# १५. संतों के स्वागत की स्वस्थ् परम्परा

## एक प्रवृत्ति : दो फलित

आगमो में कहा गया है—

'जे आसवा ते परिस्सवा जे परिस्सवा ते आसवा ।'

अर्थात् जो कार्य एक व्यक्ति के लिए पाप-वंधन का कारण वनता है, वही दूसरे के लिए आत्म-उत्थान का कारण वन जाता है । इसी तरह एक के लिए जो आत्म-उत्थान का कारण वनता है, वही दूसरे के लिए पाप-वधन का कारण वन जाता है । अभी हमारा स्वागत किया गया । यदि आपने अपना आत्म-धर्म समझकर ऐसा किया है तो यह निश्चित रूप से आपके आत्म-उत्थान का कारण है । पर हम यदि इसके इच्छुक हैं तो यह हमारे लिए पाप-वंधन का कारण । इसी के समानान्तर यदि आप लोगो ने अपनी प्रतिष्ठा और नाम के लिए स्वागत किया है तो यह आपके लिए पाप-वधन का कारण है और हम इस स्वागत की कोई आकाक्षा न करते हुए अपनी साधना को जन-आकाक्षा के अनुरूप और अधिक तेजस्वी वनाते हैं तो यह हमारे लिए आत्मोत्थान का कारण है । इसलिए दोनो को ही इस दृष्टि से सजगता रखना वहुत आवश्यक है ।

## स्वागत की स्वस्थ परम्परा

स्वागत मे वहुत-सारे लोगो ने अपने विचार व्यक्त किए । मैं ऐसा तो नही कह सकता कि शाब्दिक स्वागत का कोई मूल्य नही है । शव्दो के माध्यम से आपके हृदय की श्रद्धा और पवित्र भावना व्यक्त हुई है । फिर भी इतना सुनिश्चित है कि त्यागी सतो का सच्चा स्वागत त्याग से ही हो सकता है । आप लोगो से भी मैं कहना चाहता हू कि आप भी त्याग के द्वारा संतो के स्वागत की परम्परा डाले । त्याग की प्रवृत्ति जितनी अधिक विकसित होती है, अध्यात्म उतना ही अधिक उजागर वनता है; भारतीय सस्कृति उतनी ही अधिक प्रतिष्ठित होती है ।

सिक्कानगर (वम्वई), ५ जुलाई १९५४

# १६. युवक अपनी शक्ति को संभालें

## स्वस्थ समाज-निर्माण का आधार

मेरे सामने बड़ी सख्या में युवक लोग उपस्थित है। उनमें अदम्य उत्साह है, साहस है और काम करने की क्षमता है। पर इन सबकी सार्थकता तभी है, जब वे सही माने मे जीवन का उद्देश्य समझते हुए चरित्र-विकास और आत्मोत्थान में इनका प्रयोग करे। केवल बात बनाने का कोई लाभ नही है। मुझे वे क्षण बहुत याद हैं, जब युवकों का यह स्वर सुनाई देता था कि हम धर्मगुरुओ के पास जाकर क्या करें, जबकि उनके पास कोई रचनात्मक कार्यक्रम ही नही है। मैने इस बारे में गंभीरता से चिंतन किया। मैंने देखा, जन-जीवन तीव्र गति से नैतिक पतन की ओर ढलता जा रहा है। उसे रोकना अत्यन्त आवश्यक है। अन्यथा मानव-समाज का बहुत बडा अहित होगा। मानव-समाज को इस खतरे से बचाने के लिए मैने एक नैतिक निर्माणात्मक योजना प्रस्तुत की। 'अणुव्रती सघ' के रूप में प्रस्तुत इस योजना के द्वारा जन-जन की चारित्रिक चेतना को झकृत कर एक स्वस्थ एवं चरित्रसम्पन्न समाज का निर्माण किया जा सकता है। मै नही समझता, इससे अधिक रचनात्मक कार्य और क्या हो सकता है। मुझे प्रसन्नता है कि युवक इस योजना के प्रति आकर्षित हो रहे हैं। पर मुझे इतने से ही संतोष नही है। उन्हे कठिनाइयो और असुविधाओं की परवाह न करते हुए स्वय चरित्रसंपन्न बनना होगा, नैतिक और प्रामाणिक बनना होगा, व्यसनमुक्त जीवन जीना होगा। ऐसा होगा तो स्वयं उनका तो जीवन पवित्र होगा ही, स्वस्थ समाज-सरचना की दिशा में भी महत्त्वपूर्ण कार्य होगा। समाज की बुजुर्ग पीढ़ी की अवधारणा भी उनके प्रति बदलेगी। वह भी यह विश्वास करने लगेगी कि हमारी भावी पीढ़ी एक चरित्रसम्पन्न एव नीतिनिष्ठ पीढ़ी है, जो समाज-निर्माण के लिए बहुत कुछ कर गुजरने की क्षमता रखती है। इसलिए युवक इस विन्दु पर गम्भीरता से चिंतन करें और अपनी संकल्पात्मक एवं क्रियात्मक शक्ति का स्फोटन करे। समाज और राष्ट्र के उज्ज्वल भविष्य का यह बहुत बडा आधार बनेगा।

## चुनौती का समय

मुझे यह कहने की कोई अपेक्षा नही कि आज भौतिकवाद का युग है।

भौतिकता नशे की तरह जन-जन के मस्तिष्क पर छाई है। यंत्रवाद का आकर्षण जनता को पंगु वना रहा है। लोग जीवन के आन्तरिक सौन्दर्य की तरफ से आख मूदकर भौतिक एवं नश्वर शरीर को सजाने-सवारने मे अपनी अधिकाश ऊर्जा व्यय कर रहे है। पर वे इस वात की ओर ध्यान नही देते कि यह भौतिक सजावट उनके हृदय को क्रमश: अधिक-से-अधिक कुरूप और कालिमापूर्ण वना रही है। जीवन के आध्यात्मिक मूल्य विघटित हो रहे हैं, नष्ट हो रहे हैं। सचमुच यह एक गम्भीर स्थिति है। इस स्थिति में अध्यात्मवाद और भारतीय संस्कृति मे आस्था रखनेवाले लोगो के लिए एक चुनौती का समय है। अध्यात्म एव भारतीय सस्कृति के शाश्वत मूल्यो की रक्षा की उन पर बहुत वड़ी नैतिक जिम्मेवारी आ गई है। उनका काम है कि वे भारत की त्यागमूलक सस्कृति एवं अध्यात्म के शाश्वत मूल्यो की सुरक्षा एवं उनको पुनर्जीवित करने की दृष्टि से संगठित रूप मे एक सघन प्रयत्न करें। युवक शक्ति के प्रतीक होते हैं। उनकी शक्ति पर मुझे पूरा-पूरा भरोसा है। वे जिस कार्य को उठा लेते है, उसकी सफलता निश्चितप्राय: वन जाती है। मैं वम्वई के युवकों को आह्वान करता हूं कि वे अणुव्रत के नैतिक एवं चारित्रिक अभियान को हर स्तर पर सफल वनाने में अपने पूरे दम-खम के साथ जुट जाएं।

सिक्कानगर (वम्वई)
५ जुलाई १९५४

# १७. सच्चे मानव बनें

## आत्म-विजय ही परम विजय है

हम जैन साधु हैं। जैन की परिभाषा है—'जयति आत्मानं इति जैन ।' अर्थात् जो अपनी आत्मा को जीतता है, वह जैन है। आत्म-विजय सचमुच बहुत महत्त्वपूर्ण बात है। इस जीत के समक्ष बाहर की कोई भी जीत फीकी-फीकी रहती है। आगमो मे कहा गया है—

**जो सहस्सं सहस्साणं, संगामे दुज्जए जिणे।**
**एगं जिणेज्ज अप्पाणं, ऐस से परमो जओ॥**

एक व्यक्ति युद्ध मे दस लाख योद्धाओं पर विजय प्राप्त कर लेता है और एक दूसरा व्यक्ति अपनी आत्मा पर विजय प्राप्त करता है। यह आत्मा पर विजय प्राप्त करनेवाला महान् विजयी है। इसकी विजय परम विजय है।

हालाकि सम्पूर्ण आत्म-विजय के शिखर को छू लेना कोई सामान्य बात नही है। दीर्घकालिक साधना के बाद ही व्यक्ति इस लक्ष्य तक पहुच सकता है। कोई-कोई व्यक्ति ही इस ऊचाई तक पहुच पाता है। पर आशिक रूप मे आत्म-विजय तो हर व्यक्ति कर सकता है। इस दिशा मे गति तो हर चरण कर सकता है। जैन कहलानेवाले व्यक्ति के समक्ष अपने चरम लक्ष्य के रूप में आत्म-विजय की बात स्पष्ट रहनी चाहिए। जब तक वह वहा तक नही पहुचता है, तब तक उसे सतत उस दिशा मे गतिशील रहना चाहिए। और जब व्यक्ति आत्म-विजय को लक्ष्य बनाकर गति करता है, तब वह शोषण नही कर सकता, अन्याय नही कर सकता, अनाचार का सेवन नही कर सकता। यदि इस प्रकार की बुराइया व्यक्ति के जीवन मे कुडली मार कर बैठी हैं तो मुझे कहना चाहिए कि वह सच्चे अर्थ में जैन नही है, मात्र कहलाने का ही जैन है।

आज बहुत बुरी बात यह हुई है कि जैन लोग अपने जैनत्व के प्रति जागरूक नही है। उन्हे यह समझना चाहिए कि जैनत्व उनकी मूल पूजी है। इस मूल पूजी की सुरक्षा करना उनका प्राथमिक कर्तव्य है। इस धन को खोने का अर्थ है अपनी सर्वाधिक मूल्यवान् निधि को खो देना। वे इस

विन्दु पर गंभीरता से ध्यान दें कि मात्र जैन मन्दिर में चला जाना या साधु-साध्वियों के स्थान पर चला जाना ही जैनत्व का लक्षण नही है। जैनत्व तो उनके जीवन के हर व्यवहार में प्रतिष्ठित रहना चाहिए, उनके हृदय की धडकन-धड़कन के साथ ध्वनित होना चाहिए। उनका कोई भी व्यवहार और आचरण ऐसा नही चाहिए, जो जैनत्व को लांछित करता हो। यह तभी सम्भव है, जव जैन लोग अपने जीवन को सदाचार, संयम, शील आदि से भावित करेंगे।

## जैनों की प्रतिष्ठा

प्राचीन समय मे जैनों की कितनी वड़ी प्रतिष्ठा थी! राजाओं के अत पुर मे कोई जैन चला जाता तो राजा को कोई चिता नही होती, सदेह और अविश्वास नही होता, क्योकि यह आम विश्वास था कि जैन शील-सम्पन्न होते हैं, पर-स्त्री को माता व वहिन के समान समझते हैं। राजभडार मे जाने की भी जैनो को वहुत सहजता से आज्ञा मिल जाती थी। क्यो? यह प्रतिष्ठा जो वनी हुई थी कि जैनो के हाथ चोरी करने के लिए नही होते। मैं ऐसी वातो को पढ़-पढ़कर सुन-सुनकर गद्‌गद हो जाता हूं। यह प्रतिष्ठा वस्तुत: जैनो की नही, अपितु उनके जैनत्व की थी, उनके शील और सदाचार की थी, ईमानदारी और प्रामाणिकता की थी। पर दुर्भाग्य से यह प्रतिष्ठा कम होती जा रही है। जैन लोग अपनी विश्वसनीयता खोते जा रहे हैं। उनका जीवन अपने आदर्श से नीचे गिरता जा रहा है। मेरे पास जैन लोगो के आचरण और व्यवहार से सम्वन्धि अनेक प्रकार की शिकायतें आती है। हालाकि मैं मानता हूं कि सव लोग गलत आचरण नही करते, अनुचित व्यवहार नही करते, वल्कि आज भी वहुत-सारे लोग आदर्श का जीवन जीते हैं, पर कुछ लोगों का गलत आचरण और अनुचित व्यवहार सम्पूर्ण जैन समाज की प्रतिष्ठा पर काला धव्वा लगानेवाला सिद्ध होता है। इसलिए जैन लोगो को सभलने की जरूरत है। अपने आचरण और व्यवहार की समीक्षा करने की जरूरत है। उन्हें जैनत्व की गरिमा के अनुरूप वनाने की जरूरत है। अन्यथा मुझे आशका है कि कही वे रही-सही प्रतिष्ठा को भी न खो दें।

## सच्ची स्वतन्त्रता क्या है?

वन्धुओ! मैं तो जैनत्व की सुरक्षा की वात कर रहा हूं, पर स्थिति तो यह है कि आज आदमी अपने मानवीय धरातल को भी छोड चुका है। अपने प्रकृतिगत सदाचार को छोडकर दुर्व्यसनो का दास वन गया है। परतन्त्रता का जीवन जी रहा है। आप कहेगे, परतन्त्रता कैसी? हम तो पूर्ण

स्वतंत्र हैं। यह ठीक है कि आज विदेशी हुकूमत नहीं है, प्रजा द्वारा निर्वाचित व्यक्तियों के हाथों में राष्ट्र की वागडोर है। पर इस राजनैतिक स्वतंत्रता मात्र से मैं आपको स्वतंत्र नहीं मान सकता। आप शायद अपनी राजनैतिक स्वतंत्रता पर गौरव कर सकते हैं, पर मेरी दृष्टि से आप पहले से ज्यादा परतन्त्र हैं। दुर्व्यसन के बंधन आपको क्रमशः गहरे से-गहरे जकड़ते जा रहे हैं। तव कैसी स्वतंत्रता। यदि वाह्य स्वतंत्रता ही स्वतंत्रता है तो फिर आज दुःख की इतनी चीत्कारें सुनने को क्यों मिलती। तत्त्व यह है कि सुख का स्रोत आत्मिक स्वतन्त्रता में है। इसलिए जब तक यह स्वतंत्रता प्राप्त नहीं हो जाती, तब तक व्यक्ति सुख को उपलब्ध नहीं हो सकता।

## क्या मनुष्य श्रेष्ठ है?

मनुष्य को सब प्राणियों में श्रेष्ठ माना गया है। हम देखते हैं, मनुष्य भी खाता है और पशु भी खाता है, बल्कि पशु मनुष्य से ज्यादा खाता है। वजन भी वह ज्यादा ढो सकता है। स्थूल शरीर भी उसका बड़ा है। फिर मनुष्य को श्रेष्ठ की उपाधि क्यों दी गई है? यह उपाधि इसीलिए कि उसमें बुद्धि है हेय और उपादेय का विवेक है। लेकिन एक वात यहां समझने जैसी है। मनुष्य विवेक के कारण वड़ा है, पर वह अपने विवेक को यदि आत्म-जागृति में नहीं लगाता है तो फिर श्रेष्ठ कैसे। फिर तो वह पशु से भी गया-बीता है। हम बहुत स्पष्ट रूप से देखते हैं कि आज मनुष्य अपनी प्रकृति को छोड़कर विकृति में पहुंच गया है। हिंसक पशुओं में भी कुछ मर्यादाएं होती हैं। वे उन मर्यादाओं का पूरा-पूरा पालन करते हैं। किन्तु मनुष्य खुलेआम अपनी मर्यादाओ का अतिक्रमण कर रहा है। शेर को आप देखिए, उसे जितनी आवश्यकता होती है, प्रायः उतने ही पशुओं को मारता है। आवश्यकता-पूर्ति हो जाने के पश्चात् पास से बकरी भी भले क्यों न निकल जाए, वह उसको मारने का प्रयत्न नहीं करता। पर मनुष्य में यह मर्यादा कहां है। पास में करोड़ों की पूंजी है, तथापि ज्यादा-से-ज्यादा धन वटोरने का प्रयत्न करता है। फिर धन कमाने के साधनों में भी जायज-नाजायज का कोई विवेक नहीं रखता। गलत-से-गलत साधन अपनाने में भी उसको कोई संकोच महसूस नहीं होता।

पशु में भक्ष्य-अभक्ष्य का विवेक रहता है। वह न खाने की चीज किसी भी स्थिति में नहीं खाता। न पीने की चीज किसी भी स्थिति में नहीं पीता। पर मनुष्य में यह विवेक कहां है। जिन कुलों में मांस-मदिरा का सर्वथ निषेध था, आज उन कुलो के लोग भी मांस और मदिरा का सेवन करने लगे हैं। कैसा आश्चर्य है कि आदमी को मांस-मदिरा आदि छोड़ने की प्रेरणा दी जाती है! अरे! प्रेरणा से तो हाथी-घोड़े भी चलते हैं। मनुष्य

जव विवेकशील प्राणी कहलाता है तो उसे अपनी गरिमा के अनुरूप स्वयं भक्ष्य-अभक्ष्य का विवेक करना चाहिए; अभक्ष्य का परिहार करना चाहिए। पर मुझे लगता है कि आदमी विवेकसम्पन्न होने के साथ-साथ भुलक्कड़ स्वभाव का है। वह अपने गौरव के आदर्श को भूल जाता है। इसलिए उसे वार-वार प्रेरणा देनी होती है, उपदेश देना होता है। यदि प्रेरणा और उपदेश से भी आदमी संभल जाता है तो वह पतन से वच सकता है। परन्तु ऐसे भी वहुत-सारे लोग होते हैं, जो प्रेरणा और उपदेश पर ध्यान ही नहीं देते। ऐसी स्थिति मे उनको पतन से कैसे वचाया जा सकता है।

## सही अर्थ में मानव बनें

आज मनुष्य अत्यन्त स्वार्थी वन रहा है। हालांकि अपना हित-साधन नही छोडा जा सकता, पर अपने हित-साधन के लिए दूसरो के हितो को कुचलना कतई उचित नही है। भगवद् गीता मे कहा गया है—**'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्'**— जो प्रवृत्ति अपने लिए बुरी या प्रतिकूल लगे, वैसी प्रवृत्ति व्यक्ति दूसरो के लिए कभी न करे। जव व्यक्ति अपना अनिष्ट नही चाहता, स्वय मरना नही चाहता तो वह दूसरो का अनिष्ट करने और उन्हे मारने से परहेज क्यो नही रखता। व्यक्ति जव स्वयं धोखा खाना नही चाहता तो वह दूसरो को धोखा क्यो देता है। पर स्थिति यह है कि व्यक्ति जव पानी-मिला दूध पीता है तो सिर हिलाता हुआ दूधवाले को गालियां वोलता है। कहता है—कैसा अन्याय है, दूध मे भी पानी मिलाकर बेचा जा रहा है! देश की जनता का स्वास्थ्य कैसे टिकेगा। पर वही दुकान पर बैठकर जव शुद्ध घी मे वेजीटेवल घी मिलाकर वेचता है, तव अन्याय और अस्वास्थ्य की सारी वातें भूल जाता है। यह एक गूढ सचाई है कि जव तक व्यक्ति अपने लिए प्रतिकूल पडनेवाली स्थिति दूसरो के लिए पैदा करता रहेगा, तव तक यह सभव नही है कि वह सुखी वन सके। मैं मानता हूं, सूत्र रूप मे व्यक्ति यदि इस एक वात को हृदय से स्वीकार कर ले कि मैं परपीडन नहीं करूंगा तो वह सही अर्थ मे मानव वन सकता है। सही अर्थ मे मानव वनने के वाद जैन वनना तो वहुत सहज है।

मांडवी वन्दर (वम्वई)
८ जुलाई १९५४

# १८. संयम ही जीवन है

## सुख का साधन है आत्म-नियंत्रण

अणुव्रत आंदोलन का घोष है—'संयमः खलु जीवनम्'—संयम ही जीवन है। संयम का अर्थ है—आत्म-नियंत्रण। आत्म-नियंत्रण धर्म की कसौटी है, प्रथम सूत्र है। जहा आत्म-नियंत्रण नहीं होता, वहां धर्म नहीं हो सकता।

आत्म-नियंत्रण की तरह वाह्य-नियंत्रण भी एक तत्त्व है। पर दोनों में आकाश-पाताल का-सा अन्तर है। वाह्य-नियंत्रण दुःखदायी होता है। उस नियंत्रण में जीने के वावजूद भी आदमी सुख और शांति की अनुभूति नही करता। दूसरे शब्दों में वह थोपा हुआ नियंत्रण है। और थोपा हुआ नियंत्रण, नियंत्रण नही, बंधन होता है। आत्म-नियंत्रण में थोपने की कोई स्थिति नही होती। व्यक्ति स्वेच्छा से स्वयं को अनुशासित करता है। यह नियंत्रण सुख का साधन है, शाति का मार्ग है, आत्म-उज्ज्वलता का हेतु है।

## आत्म-नियंत्रण के तीन रूप

आत्म-नियंत्रण के तीन रूप हैं—मन-संयम, वचन-संयम और इंद्रिय-संयम। इन तीनों में मन का संयम सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। जो व्यक्ति मन के संयम को साध लेता है, उसको वचन-संयम और इन्द्रिय-संयम को अलग से साधने की अपेक्षा नही रहती। मन-संयम के साथ वे अपने-आप हो जाते है। दूसरे शब्दों में वे दोनो संयम मन-संयम में अन्तर्निहित हो जाते हैं।

मन का संयम जितना महत्त्वपूर्ण है, उतना ही कठिन भी है। मन की गति अत्यत तीव्र है। अभी इस क्षण वह बाग-बगीचों की हवा खाता है तो दूसरे क्षण में सामुद्रिक तटो की सैर और तीसरे क्षण में और कही की। ऐसी स्थिति में उसे नियत्रित रखना सवके लिए सहज साध्य कैसे हो सकता है। कोई-कोई व्यक्ति ही उसे नियंत्रित रखने में सफल हो सकता है, पर वचन-संयम और इन्द्रिय-संयम तो हर कोई रख सकता है, वल्कि रखना ही चाहिए। और जब वचन-सयम और इन्द्रिय-संयम अच्छी तरह से सध जाता है तो मन को सयमित करना भी थोड़ा सरल हो जाता है।

## संयम के दो प्रकार

संयम के दो प्रकार वताए गए हैं—

१. सर्व सयम ।

२. देश संयम ।

सर्व संयम का तात्पर्य है—मन, वचन और इन्द्रियों पर पूर्णतया संयम रखना । साधु-साध्वियो का जीवन इसका प्रतिरूप होता है ।

देश संयम का अर्थ है—थोड़ी मात्रा मे संयम । दूसरे शब्दों मे यथाशक्ति सयम । उदाहरणार्थ, कोई व्यक्ति सकल्प करता है—मैं अमुक वस्तु नही खाऊंगा । इतने समय तक नही खाऊगा । अमुक वस्तु का अमुक सीमा उपरांत उपभोग नही करूगा ।……… यह देश सयम है । गृहस्थ जीवन के लिए देश संयम सयम का व्यावहारिक रूप है ।

## संयम का यथार्थ मूल्यांकन हो

संयम आध्यात्मिक दृष्टि से तो अत्यन्त मूल्यवान् तत्त्व है ही, सामाजिक दृष्टि से भी अत्यन्त उपयोगी तत्त्व है । सयम के अभाव मे घर-घर मे संघर्ष पैदा होता है, समाज और राष्ट्र के समक्ष नाना प्रकार की समस्याएं भिन्न-भिन्न रूप लेकर खडी होती हैं । यदि जन-जन सयम को जीवन का अग वना ले तो सहज रूप से ही वहुत-सारी समस्याओ का समुचित समाधान प्राप्त हो सकता है । सार रूप मे यह कहा जा सकता है कि सयम ही जीवन है । सयम ही सुख का साधन है । संयम ही विश्व-शाति का आधार है । संयम ही धर्म का मौलिक तत्त्व है । इसलिए अपेक्षा इस वात की है कि व्यक्ति-व्यक्ति सयम का यथार्थ मूल्यांकन करे । अपने जीवन की हर छोटी-वडी प्रवृत्ति के साथ उसे जोडे । अणुव्रत-आदोलन जन-जन को संयममय जीवन जीने की प्रेरणा देता है । अणुव्रती-सघ की आचार-संहिता संयम की आचार-सहिता है । इस आचार-सहिता को स्वीकार कर व्यक्ति संयम की यथाशक्य साधना कर सकता है, अपने जीवन का अभ्युदय कर सकता है ।

सिक्कानगर (वम्वई)

# १९. चरित्र और उपासना

प्रत्येक भाई-बहिन का यह परम कर्त्तव्य है कि वह अपने जीवन का सही-सही लक्ष्य निर्धारित करे। क्योंकि लक्ष्य के निर्धारण के विना व्यक्ति गति नही कर सकता। समझने की वात यह है कि अच्छा खाना, अच्छा पहनना और ऐश व आराम का जीवन बीताना जीवन का सही लक्ष्य नही है। धन-सम्पत्ति बटोरना भी जीवन का सही लक्ष्य नही है। फिर जीवन का सही लक्ष्य क्या है ? मेरी दृष्टि मे जीवन का सही लक्ष्य है—आत्म-पवित्रता साधना। इसके लिए जरूरी है कि व्यक्ति चरित्रसम्पन्न वने। चारित्रिक सम्पन्नता ही सवसे वड़ी सम्पन्नता है। इस सम्पत्ति के अर्जन और सुरक्षा के लिए हर व्यक्ति को जागरूक रहना चाहिए। जीवन की सार्थकता और सफलता इस सम्पत्ति के अर्जन एवं सुरक्षा पर ही निर्भर है। जो व्यक्ति चरित्र से विपन्न होता है, उसका जीवन निरर्थक बन जाता है। मनुष्य-जीवन को प्राप्त करके भी वह उससे लाभ नही कमा पाता।

चरित्र की तरह दूसरा तत्त्व है—उपासना। आजकल उपासना का तत्त्व बहुत चलता है। पर मेरी दृष्टि में वही उपासना उपादेय है, जो व्यक्ति की आत्म-पवित्रता मे प्रेरक और हेतुभूत वने। जिस उपासना से इस उद्देश्य की पूर्ति नही होती, वह किस काम की। मैं उपासना को जितना महत्त्व देता हूं, उतना ही महत्त्व उसकी गुणात्मकता को भी देता हूं। केवल रूढ़ि रूप में चलने वाली उपासना का मेरी दृष्टि में कोई मूल्य नही है।

मेरे समक्ष काफी संख्या मे कार्यकर्ता बैठे हैं। मैं उनसे कहना चाहता हूं कि वे चरित्रसम्पन्नता और उपासना—इन दोनों तत्त्वो को अपने जीवन में उतारे। चरित्रसम्पन्न होकर ही वे अपने कार्यक्षेत्र मे सफलता अर्जित कर सकते है। चरित्रनिष्ठा की कमी किसी भी व्यक्ति की असफलता का सवसे प्रमुख कारण होती है। उपासना जीवन को आत्मोन्मुख वनाने की प्रक्रिया है। इन दोनो तत्त्वों के योग से जीवन मे एक नया निखार आ जाता है। आशा करता हूं, कार्यकर्ता अपने जीवन को निखार देगे।

सिक्कानगर (बम्बई), ११ जुलाई १९५४

# २०. त्याग का महत्त्व

## दो प्रकार का जीवन

इस संसार मे मनुष्य की जिन्दगी के दो रूप मिलते हैं—एक त्यागमय और दूसरा भोगमय। यह दूसरी बात है कि व्यक्ति-व्यक्ति के जीवन मे त्याग और भोग की न्यूनाधिकता मिलती है। कोई कम त्यागी होता है और कोई सम्पूर्ण त्यागी। इसी प्रकार कोई कम विलासी होता है और कोई अधिक विलासी। पर सामान्यत: ये दोनो रूप हमे मिलते हैं। हालांकि त्याग का जीवन प्रारम्भ मे कठिन लगता है, पर उसका परिणाम बहुत मधुर आता है। इसके ठीक विपरीत विलास का जीवन प्रारम्भ में सुन्दर और आकर्षक लगता है, पर अन्तत: उसका परिणाम अत्यन्त कटु होता है।

प्रश्न है, जब त्याग का अन्तिम परिणाम मधुर है, फिर व्यक्ति त्याग के पथ पर क्यों नही बढ़ता ? इसका उत्तर बहुत स्पष्ट है। व्यक्ति त्याग-मार्ग पर बढ़ने की चेष्टा तो करता है, पर भौतिक पदार्थों का मोह या आकर्षण ऐसा होता है कि वह उनके माया-जाल मे फंस जाता है, पुन: पीछे हट जाता है। दूसरी बात यह है कि त्याग-पथ पर चरणन्यास करने के लिए पूरा आत्म-बल अपेक्षित होता है, जिससे कि वह त्याग के मार्ग मे आनेवाली कठिनाइयो को पार करता हुआ चलता चले। चूंकि अधिकाश लोगो मे इस आत्म-बल का अभाव होता है, इसलिए त्याग-मार्ग के बीच आनेवाली कठिनाइयों एवं बाधाओं की कल्पना कर वे घबरा जाते हैं, आगे बढ़ने का साहस नहीं जुटा पाते। हा, कुछेक प्राणी ऐसे अवश्य होते हैं, जिनका आत्म-बल जागृत होता है और वे किसी भी प्रकार की कठिनाई की परवाह किए बिना इस पथ पर बढ़ जाते हैं। और मात्र बढते ही नही है, अपने लक्ष्य को भी प्राप्त करते है।

## त्यागी कौन ?

दशवैकालिक सूत्र मे त्यागी की परिभाषा बताते हुए कहा गया है—

**जे य कंते पिए भोए, लद्धे विपिट्ठिकुव्वई।**
**साहीणे चयइ भोए, से हु चाइ त्ति वुच्चइ ॥**

भावार्थ यह है कि सच्चा त्यागी वही है, जो सर्व साधन-सामग्रियों के उपलब्ध होने पर भी स्वेच्छा से उन्हें ठुकराता है, उनकी तरफ से मुंह मोड़ लेता है। भोग-सामग्री की अप्राप्ति या परवशता की स्थिति में उसका उपभोग नही करनेवाला सच्चा त्यागी नही है। भिखारी कहे कि मैं अपरिग्रही हूं, त्यागी हूं तो यह त्याग की विडम्बना है। श्रीमंत होते हुए भी जो अपने धन-वैभव एवं साधन-सामग्रियों का प्रत्याख्यान करता है, वही त्यागी है।

## त्याग के दो रूप

हालांकि त्याग की महत्ता सभी धर्मों ने स्वीकार की है, पर जैन धर्म इस पर विशेष वल देता है। उसमें साधु-साध्वियो के लिए जहां सम्पूर्ण त्याग का विधान है, वहीं गृहस्थो को भी संयमोन्मुख होने की शिक्षा दी गई है। एक सीमा तक त्याग करना उनके लिए भी आवश्यक वताया गया है। अणुव्रती वनो, अमुक वस्तु का अमुक सीमा तक त्याग करो आदि इसी त्याग की प्रणाली के अंग हैं।

## जीवन की सार्थकता

अध्यात्म-साधना के लिए समर्पित साधु-साध्वियों का जीवन त्याग का मूर्त रूप होता है। वे स्वयं तो सम्पूर्ण त्याग का जीवन जीते ही हैं, जन-जन को भी त्याग के पथ पर आने की प्रेरणा देते हैं। वे लोगों को समझाते हैं कि जीवन का लक्ष्य धन-सम्पत्ति का संग्रह नही है, भोग-परिभोगों को भोगना नहीं है। उसकी सार्थकता है त्यागी वनने में। यदि इस सार्थकता की वात को उपेक्षित कर व्यक्ति धन और भोग-विलास में डूव जाता है तो न केवल वह अपने जीवन को भारभूत ही वनाता है, अपितु उसे पतन के गर्त में भी गिरा देता है।

## आवश्यकता और लालसा

वन्धुओ ! आप इस वात को गंभीरता से समझने का प्रयास करें कि सुख और शांति का मार्ग त्याग ही है। साधु-संत इस सुख और शान्ति का जीवन जीते हैं, इसका रहस्य यही तो है कि वे अकिंचन होते हैं, संतोष और त्याग का जीवन जीते हैं। हालांकि मैं मानता हूं कि आप लोग साधु-साध्वियों की तरह सम्पूर्ण त्याग का जीवन नही जी सकते, आपको अपने जीवनयापन के लिए धन की जरूरत होती है। पर एक वात का ध्यान रखें। आवश्यकताओं की पूर्ति हो सकती है, लालसा की नहीं। किसी भी जीवन की अनिवार्य आवश्यकताएं सीमित होती हैं, पर लालसा अनन्त तक पहुंच जाती है। जहां व्यक्ति लालसा के भंवर में फंस जाता है, वहां उसका जीवन दुःख और अशांति का घर वन जाता है। मैं मानता हूं, आज विश्व में

जितनी भी समस्याएं हैं, उनके मूल में बढ़ती हुई लालसा ही है। इसलिए अपेक्षा इस बात की है कि व्यक्ति संतोष का मूल्य समझे, त्याग की महत्ता समझे और उन्हें जीवन मे उतारे।

सिक्कानगर (बम्बई)
११ जुलाई १९५४

# २१. अणुव्रत चरित्र-निर्माण का आंदोलन है

## आचार और विचार

आचार और विचार दो तत्त्व हैं। आचार का सौरभ अधिक फैले, यह अपेक्षा है। पर आचार से पहले विचार का स्थान है। जब तक विचार का आधार नहीं बनता, तब तक आचार अधूरा रह जाता है। अगर उपयुक्त समय पर उपयुक्त विचार का आधार मिल जाता है तो आचार अपनी गति से फलता-फूलता रहता है।

अणुव्रत-आंदोलन एक आचार-शुद्धि का आंदोलन है, चरित्र-निर्माण का आंदोलन है, जीवन-शोधन की प्रक्रिया है। जिस तरह गवेषणशालाओं और रसायनशालाओं में अनेक तत्त्वों की शोध की जाती है, उसी तरह यह आंदोलन जीवन-शोध की शोधशाला है। पर इसके पीछे विचार का एक पुष्ट दर्शन है। उस दर्शन को समझनेवाला ही अणुव्रत-आंदोलन को अच्छी तरह से समझ सकता है, उसकी आचार-संहिता को अच्छे ढंग से आचरण में ढाल साकता है।

## विभिन्न समस्याओं का समाधन : अणुव्रत

हालांकि अणुव्रत-आंदोलन की पृष्ठभूमि में अध्यात्म है, धर्मनीति है, राजनीति एवं अर्थनीति से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है, तथापि यह कहने में कोई कठिनाई नहीं कि परोक्ष रूप से यह आंदोलन विभिन्न प्रकार की राजनैतिक एवं आर्थिक समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करता है।

मैं देख रहा हूं, आज का युग आर्थिक समस्याओं का युग है। उन समस्याओं के समक्ष आदमी घुटने टेकता जा रहा है। बहुत समझने की बात यह है कि समस्याएं अपने-आप बहुत पेचेदी नहीं हैं, पर अनैतिकता और विलासिता उन्हें पेचीदा बना रही हैं; संग्रह की मनोवृत्ति उन्हें जटिल बना रही हैं। ऐसा लगता है कि अर्थ लोगों के जीवन का साध्य बन गया है। इसलिए सबकी दृष्टि अर्थ पर है और सब अन्धाधुंध उस ओर दौड़े जा रहे हैं। जो पूजीपति बन जाता है, वह अपनी पूंजी का संरक्षण चाहता है। जो गरीब है, वह पूंजीपति बनना चाहता है। इस स्थिति में दोनों में परस्पर ईर्ष्या चलती है, संघर्ष होता है। मेरा चिंतन है कि जब तक अर्थ के प्रति

व्यक्ति का दृष्टिकोण सही नही बनेगा, यानी वह उसे जीवन का साध्य मानना नहीं छोड़ेगा, तव तक समस्याएं सुलझेगी नही। वस्तुतः अर्थ मात्र जीवन चलाने का साधन है। इससे अधिक उसे महत्त्व या मूल्य देना ही विभिन्न प्रकार की आर्थिक समस्याओ को पैदा करना है। इसलिए अपेक्षा इस बात की है कि व्यक्ति सतोष, अपरिग्रह और सादगी को जीवन मे स्थान दे। इसके सिवाय समस्याओ के समाधान का दूसरा कोई विकल्प नहीं है।

अणुव्रत आदोलन की चर्चा मैंने पूर्व मे की थी। यह आंदोलन व्यक्ति-व्यक्ति के जीवन को सयम, त्याग और संतोष की ओर मोड़ने का प्रयत्न करता है। इस आंदोलन की बड़ी विशेषता यह है कि यह जाति, वर्ण, वर्ग, सम्प्रदाय आदि के भेदो से सर्वथा ऊपर है। सयम और मानवीय मूल्यो मे विश्वास करने वाला कोई भी व्यक्ति इस अनुष्ठान मे सम्मिलित हो सकता है। दूसरे शब्दों में यह मानव धर्म है। इस आदोलन के माध्यम से हम राष्ट्र मे चरित्र-निर्माण का कार्य करना चाहते हैं, जो कि आज के समय की सवसे बड़ी अपेक्षा है। मै चाहता हूं, व्यक्ति-व्यक्ति अणुव्रत के दर्शन को समझे, विचार को समझे और उसे अपने जीवन मे ढाले। इससे उसका स्वयं का जीवन तो उन्नत बनेगा ही, राष्ट्र का भी वहुत बड़ा हित हो सकेगा।

सिक्कानगर, वम्वई
१९ जुलाई १९५४

# २२. जैन-दर्शन को देन*

## आचार की पृष्ठभूमि

संस्कृति जीवन का आचार-पक्ष है। 'आचारः प्रथमो धर्मः'—यह स्वर आचार को सर्वाधिक मूल्य देने वाला स्वर है। मनुष्य विवेकशील प्राणी है, इसलिए आचार-विवेक उसका प्रमुख कर्तव्य है। वह जो कुछ करता है, प्रकृति से ही नही करता, विवेकपूर्वक भी करता है। विवेक का विकास विचार से होता है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि विचार आचार की पृष्ठभूमि है। हालांकि प्रत्येक विचार हर व्यक्ति के जीवन में आचार बनकर उतरे, यह आवश्यक नही, पर यह सुनिश्चित है कि जो आचार बनता है, वह विचार का ही प्रतिबिम्ब होता है।

## जैनदर्शन और व्यक्ति-स्वातन्त्र्य

भारतीय संस्कृति वैदिक, बोद्ध और जैन—इन तीन विचारधाराओं से सम्पन्न है। हम लोग जैन परम्परा से सम्बन्धित है। जैन परम्परा का अपना एक वैचारिक दर्शन है। जैन-दर्शन के आत्मवाद के सिद्धांत/विचार ने भारतीय मानस को इतना प्रभावित किया है कि व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का स्वर जन-जन का मंत्र-पाठ बन गया। ईश्वर की असीम शक्ति के स्वीकरण मे भी हमारे जीवन मे उसके हस्तक्षेप का अस्वीकरण इस व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का मूल मंत्र है। हम स्वयं अपने भाग्य के निर्माता हैं, विधाता है। उसका परिणाम भी हम स्वयं ही झेलते है। मूलतः भाग्य हमारे पुरुषार्थ का परिणाम है और पुरुषार्थ करने में हम स्वतंत्र हैं। यदि भाग्य और पुरुषार्थ के स्तर पर हम दूसरे के हाथो में हों तो हमारे व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का कोई मूल्य नही रहता। पुरुषार्थ और उसके फल—भाग्य के प्रति हमारा उत्तरदायित्व जैसे व्यक्ति-स्वातन्त्र्य को निश्चित बनाता है, वैसे ही आत्मा ही परमात्मा है, यह सिद्धांत भी व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के स्वर को उत्तेजित करता है। आत्मा यदि परमात्मा का अंश हो तो पुरुषार्थ के प्रति उसके उत्तरदायित्व का कोई अर्थ

---

*अमेरिकन फुलब्राइट स्कोलरों के बीच प्रदत्त वक्तव्य।

नही रह जाता। वस्तुतः वह अपने से भिन्न किसी दूसरी सत्ता का अंश नहीं है। उसका किसी दूसरी शक्ति में विलय भी नही होता।

## जैन-दर्शन की मौलिक देन—अनेकान्तवाद

अनेकांतवाद जैन-दर्शन की मौलिक देन है। इस विचार के माध्यम से भगवान महावीर ने अहिंसा के सिद्धांत को कायिक और वाचिक अहिंसा से भी वहुत आगे वैचारिक अहिंसा की सूक्ष्मता मे पहुंचाया है। इससे एक तरफ व्यक्ति को विरोधी-से-विरोधी पक्ष से समन्वय की दृष्टि मिलती है तो दूसरी ओर दूसरों को समझने की भावना जागृत होती है।

## हिंसा धर्म नहीं

पारमार्थिक धर्म को समझने के लिए भी जैन-दर्शन ने प्रचुर सामग्री प्रस्तुत की है। हिंसा कभी भी और कही भी धर्म नही है। धर्म के लिए हिंसा करना अधर्म है। वंदन, नाम, सम्मान, पूजा आदि के लिए, जन्म और मृत्यु से मुक्ति पाने के लिए, दुःख से छुटकारा पाने के लिए लोग हिंसा करते हैं। किंतु किसी भी कोटि की हिंसा धर्म नही है। विवाह, संतान-उत्पादन, युद्ध, व्यापार आदि लौकिक प्रवृत्तिया हैं। इन्हें लोक-धर्म कहा जा सकता है, पर आत्म-धर्म नही। न्यूनाधिक मात्रा मे ये हिंसा से जुड़ी जो हैं।

वर्णवाद और जातिवाद अतात्विक है। इनसे हीनता और अहंकार की भावनाएं पैदा होती हैं, पवित्रता नही। बाह्य-शुद्धि से आत्म-शोधन नही होता।...... भगवान महावीर के ये क्रांतिकारी विचार, जन-जन के मानस को छूनेवाले हैं। भक्ष्याभक्ष्य का विवेक, तपस्या की स्वस्थ परम्परा, अनशन का प्रयोग आदि वातें जैन-दर्शन की अपनी विशेषताएं हैं। इन सव वातो के द्वारा जैन-दर्शन ने भारतीय चिंतन को वहुत प्रभावित किया है।

## अणुबम बनाम अणुव्रत

आप लोग अणुवम की स्पर्धा के मुखिया देश के नागरिक हैं। अमेरिका से आप लोग भारतीय संस्कृति और कला का अध्ययन करने आए हैं। यहां आपको अणुवम के स्थान पर अणुव्रत मिलेगा। शब्दों मे काफी साम्य होने के वावजूद दोनों की गुणात्मकता मे वहुत भारी अन्तर है। अणुवम जहां विनाश का प्रतीक हैं, वहां अणुव्रत शांति का सर्जक है। जैन धर्म का वहुत स्पष्ट विचार है कि शांति धन और वल-प्रयोग से नही होती। शांति होती है संयम को जीवन में उतारने से। अणुव्रत संयम की वात सिखाता है। भोग-विलास का नियंत्रण और त्याग न केवल जैन परम्परा का, अपितु भारतीय संस्कृति का मूल सूत्र है। इस सूत्र को न समझने के कारण विश्व-मानस अशांत वन रहा है। एकतांत्रिक, प्रजातांत्रिक या साम्यवादी सभी

राष्ट्र जीवन की आवश्यकताओं की वृद्धि एवं उनकी पूर्ति की चिन्ता के बोझ से दबे जा रहे है। किन्तु याद रखें—आवश्यकताओं के नियन्त्रण की कला सीखे बिना शांति प्राप्त नही हो सकती, समस्याएं समाहित नहीं हो सकतीं। मैं आशा करता हूं, आप लोग भारत की आत्मा को समझने का प्रयत्न करेंगे।

# २३. स्वस्थ समाज-निर्माण में नारी की भूमिका

शिक्षा जीवन-विकास का मौलिक आधार है। इस क्षेत्र मे सबको समान अधिकार प्राप्त है। यह दूसरी बात है कि कोई व्यक्ति अधिक शिक्षित हो सकता है और कोई कम। पर अधिकार की दृष्टि से कोई न्यूनाधिकता नही है। हालांकि वह भी एक समय था जब ऐसा कहा जाने लगा था कि नारी को शिक्षार्जन का अधिकार नही है। इसे पुरुष जाति की अनधिकार चेष्टा या उसकी अपनी स्वार्थमयी भावना का पोषण ही मानना होगा। पर आज का युग समानता का युग है। इस युग में यह विषमता की बात चल नही सकती। वैसे भी यह अवधारणा अब समाप्तप्राय: हो चुकी है। और कहीं थोड़ी-बहुत है भी तो उसका कोई मूल्य नही है।

अध्यात्म के क्षेत्र मे भगवान महावीर ने नारी को पुरुष से कही कम अधिकार नही दिए। कतिपय दर्शनों ने जहां नारी को मोक्ष के अधिकार से वंचित कर दिया, वहा महावीर ने वह द्वार उसके लिए समान रूप से खुला रखा। उनकी दृष्टि मे धर्म के लिए वर्ग, वर्ण, लिंग, जाति आदि का कोई भेद नही हो सकता।

## पुरुष और नारी : गाड़ी के दो पहिए

हम इस बात को समझे कि पुरुष और नारी दोनों समाज-रचना के दो बराबर के आधार हैं। जब दोनो सुशिक्षित एवं सुसंस्कारित होगे, तभी समाज का समुचित विकास हो सकेगा। गाड़ी का एक पहिया कमजोर होगा तो गाडी अच्छे ढंग से नही चल सकेगी। उसके गति करने मे बार-बार बाधा आएगी। गति मंद तो होगी-ही होगी, कदाचित् गति सर्वथा अवरुद्ध भी हो सकती है। इसलिए गाडी के दोनों पहियो का समान रूप से ठीक होना आवश्यक है। समाज की गाड़ी भी स्त्री और पुरुष रूपी दोनों पहियों के समान रूप से ठीक होने से विकास की राह पर आगे बढ़ सकती है। इसलिए नारी को भी पुरुष की तरह ही सुशिक्षित और सुसंस्कारित होने की नितांत अपेक्षा है। और मैं तो कई बार इस भाषा मे भी सोचता हूं कि नारी को पुरुष से भी ज्यादा सुशिक्षित और सुसस्कारित होना चाहिए। बच्चे, जो राष्ट्र की अमूल्य निधि हैं, भावी कर्णधार और निर्माता हैं, उन पर जितना

गहरा और स्थायी प्रभाव माता का पड़ता है, उतना दूसरों का नही । उनका जितना समय स्कूल और अन्यत्र बीतता है, उससे भी ज्यादा माता के पास बीतता है । इस स्थिति में माताएं जितनी सुसस्कारी और सुशिक्षित होंगी, उतने ही अच्छे संस्कार बच्चों में आ सकेंगे । इस प्रकार सुशिक्षित एवं सुसस्कारित माताएं ही राष्ट्र के उज्ज्वल भविष्य का निर्माण कर सकेंगी ।

## शिक्षा का उद्देश्य

सबसे पहले आप इस बात पर चिन्तन करें कि शिक्षा का उद्देश्य क्या है ? आज के छात्र उपाधियां प्राप्त कर पैसे का उपार्जन कर लेना ही शिक्षा का ध्येय मानने लग गए हैं । यह एक गलत दृष्टिकोण है । इस दृष्टिकोण के कारण युवक नैतिकता, प्रामाणिकता आदि से दूर होते जा रहे हैं । अगर छात्राएं भी उनकी तरह इस उद्देश्य की साधना में लगेंगी तो मैं कहूंगा कि वे भयंकर भूल करेंगी । शिक्षा का मूलभूत उद्देश्य है--आत्मगुणों का विकास, जीवन का सुधार और पवित्रता । आज की शिक्षा मे इन उद्देश्यो की पूर्ति करने की क्षमता नही है । वह व्यक्ति को केवल बाह्य-सुधारों मे उलझाए रखती है । अपेक्षा है, शिक्षा की रीति-नीति तय करने वाले लोग इस बिन्दु पर गंभीरता से चिन्तन करें ।

शास्त्रो मे कहा गया है—'सा विद्या या विमुक्तये'— विद्या वही है, जो बन्धनों को तोड़कर मुक्ति की ओर अग्रसर करे । जहां सिर्फ पुस्तको को पढ़ने व ज्यों-त्यो करके परीक्षा मे उत्तीर्ण होने का ही लक्ष्य रहता है, वहां शिक्षा मुक्ति का हेतु नही बन सकती । यदि यह गलत लक्ष्य सुधर जाए तो विद्यार्थी भी मात्र परीक्षा में उत्तीर्ण होने की चेष्टा नही करेगे और न अध्यापक-अध्यापिकाएं भी उन्हे सिर्फ उत्तीर्ण करने की कोशिश करेंगे । वे चाहेगे कि विद्यार्थी का जीवन सुसस्कारित बने ।

## परमात्मा के प्रति श्रद्धा कम क्यों ?

कल ही एक बहिन ने मुझसे पूछा—"कुछ ज्यादा पढ़ जाने के बाद आज विद्यार्थियों में आत्मा और परमात्मा के प्रति श्रद्धा की कमी पाई जाती है, इसका क्या किया जाए ?" मैंने उससे कहा—"अगर ईश्वर का नाम लेने का कहकर या उसे सृष्टि का नियन्ता व संचालक बताकर ही विद्यार्थियों मे ईश्वर के प्रति श्रद्धा पैदा करना चाहती हो तो तुम कभी सफल नही हो पाओगी । इसके स्थान पर तुम यह समझाओ कि जो आत्मा है, वही पवित्रता की ओर बढ़ती हुई क्रमश. परमात्मा बन जाती है । व्यक्ति स्वयं अपने अच्छे-बुरे भाग्य का निर्माता है । ईश्वर न उसका बुरा करता है और न भला । अच्छी प्रवृत्ति अच्छे भाग्य का हेतु बनती है और बुरी प्रवृत्ति बुरे भाग्य का । इसी के आधार पर वह अच्छे और बुरे फल प्राप्त करता है"... ...

अगर इन बातो मे उनका विश्वास जम गया तो आत्मा और परमात्मा मे श्रद्धा न होने का कोई कारण नही है।"

## भौतिकता की मार

आज भौतिक विज्ञान का युग है। बाह्य सुख-सुविधाओं के साधन दिन-पर-दिन बढ़ते जा रहे हैं। स्थूल शरीर उनमे आराम पाता है। यही कारण है कि वह आकर्षक भी लगता है। किन्तु उसमे आत्मा का पतन होता है, यह सहजतया किसी को नही दीखता। एक घंटे के लिए बिजली न मिले तो काम बंद हो जाता है। नीद हराम हो जाती है। मकान मे बैठे रहना कठिन हो जाता है। यहा तक कि रोटी पकाना भी मुश्किल हो जाता है। भौतिक-विज्ञान के कारण मनुष्य मे कितनी परतंत्रता आ गई है! आधुनिक युग के आदमी को ऐसा लगता होगा कि शायद पुराने जमाने के आदमी शिक्षित नही थे या आदमी भी नही थे। आज का आदमी भले ही किसी भी भाषा मे क्यो न सोचे, पर यह सचाई है कि आज लोगों में वह स्वावलम्बन नही रहा, जो पहले के मनुष्यों में था। वह सहजता और सादगी नही रही, जो पहले के मनुष्य मे थी। वह नीतिनिष्ठा और सत्यनिष्ठा नही रही, जो प्राचीन काल में थी। क्या इसे प्रगति माना जाए? आध्यात्मिक दृष्टि से ऐसी प्रगति कभी भी उपादेय नही है। बहिनो को इस दृष्टि से अत्यन्त गभीरता से चिंतन करने की अपेक्षा है। भौतिकता के चक्रव्यूह में यदि वे फस गईं तो वे अपनी आत्मा का पतन कर बैठेंगी। वे इस बात को समझे कि बाह्य सुख क्षणिक है। अभी है और दो मिनट बाद मिट सकता है। आज जो सुख का कारण मालूम होता है, वही कल दुःख का कारण बन जाता है। आत्मानन्द की स्थिति इससे सर्वथा भिन्न है। वह शाश्वत है। वह कभी भी दुःख मे परिणत नही होता।

## नारी-रत्न की शक्ति का उदाहरण

जहा तक आध्यात्मिक क्षेत्र का प्रश्न है, नारी पुरुष के लिए सदा प्रेरक रही है। जब-जब पुरुष भटका है, तब-तब नारी ने उसको सही मार्ग पर लाने का प्रयत्न किया है। प्राचीन इतिहास नारी की गौरव-गाथा से भरा पडा है। जैन आगमों मे एक घटना आती है—

भृगु राजपुरोहित ससार से विरक्त होकर अपनी पत्नी और दोनो पुत्रो के साथ दीक्षित होने की तैयारी कर रहा था। राजा को इसकी खबर मिली। उसे अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि पुरोहित के सपरिवार दीक्षित होने से उसकी सारी सम्पत्ति राजभडार आ जाएगी। राजा ने तत्काल मत्री को आदेश दिया कि पुरोहित के घर जाओ और उसकी सारी सपत्ति बटोरकर यहा ले आओ। आदेश की देरी थी। मंत्री पुरोहित के घर पर

पहुंच गया और देखते-देखते उसकी संपत्ति राजभंडार में पहुंचने लगी।

रानी को इस वात की जानकारी मिली। उसके हृदय पर मानो एक तीव्र प्रहार-सा हुआ। उसके मन में चिन्तन आया—देखो, भृगु पुरोहित तो धन-सम्पत्ति को हेय समझकर छोड़ रहा है और हम उसे उपादेय समझकर ग्रहण कर रहे है। यह तो वहुत बुरी वात है। हमे इसको ग्रहण नही करना चाहिए। इस चिन्तन के साथ ही उसने दासी को भेजकर राजा से अन्त:पुर में आने के लिए कहलवाया। पर राजा उस समय कार्य में व्यस्त था, अत: वह अन्त:पुर मे नही आया। तव रानी स्वयं राजा के कक्ष मे उपस्थित हुई। राजा ने आने का कारण पूछा। रानी ने कहा—"नाथ! धन को असार और अनर्थ का मूल समझकर राजपुरोहित उसे सांप की केंचुली की तरह छोड़ रहा है और आप उसे भंडार में ले रहे हैं। कहां उसका त्याग और कहा आपकी धनासक्ति! आप जरा गंभीरता से सोचें, यह कार्य आपके लिए कहां तक उचित है?"

सुनकर राजा का सिर शर्म से नीचे झुक गया। आंखें जमीन में गड़ गईं। उसे महसूस हुआ कि मैंने एक वहुत गलत कार्य करने का निर्णय ले लिया। वस, तत्काल वह संभला। मंत्री को धन वापस करने का आदेश दे वह रानी से वोला—"देवी! आज तुमने मेरी आंखे खोल दी। मुझे नीचे गिरने से वचा लिया। इस दुर्विचार के लिए मैं प्रायश्चित्त करना चाहता हूं। वोलो, मैं क्या प्रायश्चित्त करू?"

रानी संसार से विरक्त थी। उसने अपने विरक्त हृदय को खोलते हुए कहा—"समूचे राज-पाट व भडार को छोड़कर आप संतोप-वृत्ति को धारणा करें और संयम की साधना करें।" रानी के विरक्त हृदय के शब्द राजा के हृदय को छू गए। वह भी संसार से विरक्त हो गया। अपने समूचे राज्य को छोडकर वह भृगु राजपुरोहित के साथ दीक्षित हो गया। रानी तो उसके साथ थी ही।

नारी-रत्न की शक्ति का यह एक अनूठा उदाहरण है।

## सादगी और संयम को अपनाएं

वहिनों को इस उदाहरण से प्रेरणा लेते हुए अपनी शक्ति को संभालना चाहिए। अगर वहिनें पुरुषो को यह कह देती हैं कि हमे आभूपण और तडक-भड़क नही चाहिए, आप अनीति और अनाचार से पैसा का उपार्जन करना छोड दें तो आज की अनैतिकता को वहुत कुछ कम किया जा सकता है। वहिनें इस वात को समझे कि उनकी फरमाइशो को पूरा करने के लिए पुरुषो को नाजायज तरीको से धन कमाना होता है, क्योकि जायज तरीको से होने वाली सीमित आय से उनकी भारी भरकम मांगे पूरी नही होती

और वे उन्हे नाराज भी करना नही चाहते। इसलिए वहिनें सोचें और जीवन मे सादगी और संयम को स्थान दे।

वहिनो के जीवन-विकास को केन्द्र मे रखकर मैंने कुछ वातें कही हैं। आशा करता हूं, वहिनें इन पर गंभीरता से चिन्तन-मनन करेंगी और उसके अनुसार अपने जीवन को मोडने के लिए प्रयत्नशील वनेगी। उनका यह प्रयत्न न केवल उनके स्वस्थ जीवन का आधार वनेगा, अपितु स्वस्थ परिवार और स्वस्थ समाज का भी आधार वन सकेगा।

वम्वई
२१ जुलाई१९५४

# २४. अपरिग्रह

भगवान महावीर ने अपरिग्रह पर वहुत वल दिया है, वल्कि यह कहना चाहिए कि सर्वाधिक वल दिया है। गहराई से देखा जाए तो जैनधर्म में अहिंसा को जो महत्त्व दिया गया है, उससे भी अधिक महत्त्व अपरिग्रह पर दिया गया है। इसका कारण यह है कि हिंसा के मूल में परिग्रह है। परिग्रह के कारण ही व्यक्ति नाना प्रकार की हिंसक प्रवृत्तियां करता है। पर कैसी विडम्वना है कि महावीर के अनुयायी कहलाने वाले लोग अपरिग्रह के माहात्म्य को भूल रहे हैं। यही कारण है कि वे परिग्रह के पडे वन रहे हैं। अर्थ के प्रति उनका इतना लगाव हो रहा है कि जीवन-शास्त्र करीव-करीव अर्थशास्त्र वन रहा है।

मैं इस वात को स्वीकार करता हूं कि गृहस्थ साधु-साध्वियों की तरह अकिंचन नही हो सकता, मांग कर खा सकता। उसे अर्थ से जुडकर रहना ही होता है। पर अर्थ जीवन का चरम साध्य नहीं वनना चाहिए। वह जीवन चलाने का साधन मात्र है। जहां उसे जीवन का चरम साध्य मान लिया जाता है, वहां जीवन का सारा क्रम ही वदल जाता है। उसमें अनाचार, अनीति, शोपण, धोखा, मतलवपरस्ती जैसे न जाने कितने दुर्गुण अड्डा जमा लेते हैं।

## परिग्रह के दो रूप

अपरिग्रह के संदर्भ में एक वात वहुत ध्यान देने की है। सामान्यत: धन-संपत्ति, मकान-जायदाद आदि को परिग्रह माना जाता है। मैं ऐसा तो नही कहता कि ये सव चीजें परिग्रह नही हैं, पर यह परिग्रह का वाह्य रूप है। वास्तव में परिग्रह मूर्च्छा या आसक्ति का नाम है। दशवैकालिक सूत्र में कहा गया है—'**मुच्छा परिग्गहो वुत्तो**'—भगवान महावीर ने मूर्च्छा को परिग्रह कहा है। इसके कारण ही व्यक्ति संग्रह की प्रवृत्ति से जुड़ता है। येन-केन-प्रकारेण धन वटोरने की चेष्टा करता है। इससे भी आगे समझने की वात यह है कि इस आंतरिक परिग्रह की मौजुदगी मे व्यक्ति वाह्य परिग्रह के अभाव मे भी परिग्रही वन जाता है। इस अर्थ मे एक भिखारी भी वहुत वडा परिग्रही हो सकता है। इसके विपरीत यदि आंतरिक परिग्रह की ग्रंथि क्षीण हो जाए तो व्यक्ति धन-धान्य के वीच रहता हुआ भी एक

सीमा तक अपरिग्रही बन सकता है। फिर बाह्य-परिग्रह से बन्ध कर भी वह उससे बंधता नही। इसलिए अपेक्षा इस बात की है कि व्यक्ति की धन-सपत्ति आदि के प्रति आसक्ति का भाव कम हो, समाप्त हो। जितना-जितना वह अनासक्ति की ओर बढ़ता जाएगा, उसका अपरिग्रह पुष्ट होता जाएगा। फिर अर्थ के लिए बेतहाशा भागदौड स्वय समाप्त हो जाएगी। गलत साधनों से धन-संचय करने मे प्रवृत्त होना तो बहुत दूर, वह इस बारे मे सोच भी नही सकता।

वस्तुत: अपरिग्रह सुख का सबसे बडा साधन है। सन्तजन सुखी क्यों होते है? इसका रहस्य यही तो है कि वे पूर्णरूप से अपरिग्रही होते हैं। यदि आप लोगो को भी सुख की आंतरिक चाह है तो आप अपरिग्रह की यथाशक्य साधना करे। अर्थ के प्रति अपने दृष्टिकोण को सम्यक् बनाए। उसे जीवन का लक्ष्य न मानें। उसके प्रति मूर्च्छा/आसक्ति की वृद्धि को क्षीण करें। अनावश्यक संग्रह न करे। अनुचित साधनो का उपयोग न करे। मैं मानता हूं, आंतरिक और बाह्य दोनो प्रकार के परिग्रह से आप जिस सीमा तक मुक्त हो सकेंगे, उस सीमा तक आप अपने जीवन मे सुख और शाति की अनुभूति कर सकेंगे।

बम्बई
२२ जुलाई १९५४

## २५. चरित्र की प्रतिष्ठा

भारतीय संस्कृति में चरित्र का वहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। कौन व्यक्ति कैसा है, इसकी परख प्राचीन समय मे उसके चरित्र के आधार पर होती थी। यानी जिस व्यक्ति का चरित्र जितना उज्ज्वल होता था, वह उतना ही महान् माना जाता था। पर दुर्भाग्य से आज वह मूल्य समाप्त हो रहा है। उसके स्थान पर एक नया मूल्य स्थापित हो रहा है। अर्थ के आधार पर व्यक्ति की महानता परखी जाती है। यह इस वात की सूचना है कि त्याग का अवमूल्यन हो रहा है, भौतिकता प्रभावी हो रही है।

भौतिकता के वढ़ते प्रभाव के कारण लोगो की जीवन-शैली तेजी से वदलती जा रही है। भौतिक पदार्थों का खुलकर दुरुपयोग होने लगा है। वैज्ञानिक आविष्कारों का भी अनावश्यक उपयोग हो रहा है। आदमी हर तरफ से सुख-सुविधाओं के साधनो को वटोरने मे लगा है। इसकी परिणति यह हुई है कि अनैतिकता, अनाचार और शोषण जैसी प्रवृत्तियां व्यक्ति के सिर पर हावी होती जा रही हैं। चूंकि व्यक्ति की अच्छी और वुरी प्रवृत्ति समाज या राष्ट्र को प्रभावित किए विना नही रहती, इसलिए आज समाज और राष्ट्र का वातावरण भी दूषित हो रहा है।

राष्ट्र के नेता लोग आर्थिक, शैक्षणिक आदि विभिन्न प्रकार की समस्याओ का समाधान खोजने के लिए चिन्तन कर रहे हैं। पर मुझे लगता है कि जव तक समस्याओं के मूल की ओर ध्यान केन्द्रित नही किया जाएगा, तव तक उनका सही समाधान प्राप्त नही हो सकेगा। एक समस्या समाप्त होगी तो दूसरी दो अन्य समस्याएं पैदा हो जाएंगी। ऐसा भी सम्भव है कि वही समस्या रूप वदलकर सामने आ जाए। इसलिए आज सर्वाधिक करणीय कार्य यह है कि चरित्र की पुनः प्रतिष्ठा की जाए। चरित्र की पुनः प्रतिष्ठा होने का अर्थ भारतीय संस्कृति की पुनः प्रतिष्ठा होगी। इस प्रतिष्ठा से भाईचारा, प्रेम, सदाचार, संयम, नैतिकता आदि का वातावरण विकसित हो सकेगा।

वम्वई
२४ जुलाई १९५४

# २६. बुराइयों के साथ युद्ध हो

मैं जहा भी जाता हूं, वहां एक स्वर बराबर सुनता हूं। लोग कहते हैं कि देश का पतन हो गया। पर मैं तो इस भाषा मे सोचता हूं कि व्यक्ति की आत्मा का पतन हो गया। और जब व्यक्ति की आत्मा का पतन हो गया, तब समाज और राष्ट्र का पतन तो बिलकुल स्वाभाविक बात है। व्यक्ति-व्यक्ति के समूह का नाम ही तो समाज जो है।

## आत्म-पतन का दुष्परिणाम

आत्म-पतन के कारण आज आदमी स्वार्थकेन्द्रित हो गया है। उसकी मानवीय संवेदना नष्ट हो रही है। इसलिए वह स्वयं के दुःख-सुख की तो बहुत चिन्ता करता है पर अपने भाई और पडोसी के दुःख-सुख की चिन्ता उसे नही है। इससे भी आगे दूसरों के सुख को लूटने में, दुःख देने में उसकी आत्मा मे ग्लानि नही होती। इसकी ही यह परिणति है कि शोषण, तौल-माप मे कमी-बेसी, खाद्य-पदार्थों एवं दवाइयो मे मिलावट जैसी प्रवृत्तिया धड़ल्ले से चल रही है। हत्या, बलात्कार, लूट-खसोट जैसी घटनाएं सामान्य बाते हो रही है। इन्सान इन्सानियत की राह से हट कर उन्मार्ग मे इस प्रकार भटक गया है कि उसे इन्सान कहने मे भी कठिनाई महसूस होती है।

## आत्म-पतन क्यों ?

प्रश्न है, आदमी की आत्मा का पतन क्यो हुआ ? मुझे लगता है कि इसका एक बहुत बडा कारण परिग्रह है। परिग्रह यानी धन, परिवार के प्रति व्यक्ति की आसक्ति। इस आसक्ति के कारण उसकी लालसा अनियत्रित हो रही है। वह सब कुछ बटोर लेना चाहता है, जिस-तिस तरह बटोर लेना चाहता है। यही दुःख का मूल भी है। जब तक व्यक्ति अर्थ के प्रति अपना दृष्टिकोण यथार्थ नही बनाएगा यानी उसे जीवन का साध्य समझना नही छोडेगा, तब तक दुःख भी उसका पिंड नही छोडेगा।

## बुराइयों के साथ युद्ध हो

पिछले वर्षो में भारतीय लोगो ने स्वतन्त्रता-सग्राम लड़ा। हजारो-हजारो लोगो ने उसमे अपना बलिदान दिया। आज फिर एक युद्ध छेड़ने

की जरूरत है। पर यह युद्ध उस युद्ध से वहुत भिन्न तरह का युद्ध है। अर्थात् यह युद्ध मनुष्यो के साथ नही, किसी विदेशी सत्ता के साथ नही, अपितु अपनी बुराइयो के साथ करने का है। यदि ऐसा होता है तो व्यक्ति-व्यक्ति पुन: अपने मानवीय धरातल को प्राप्त कर सकेगा। समाज और राष्ट्र स्वयं स्वस्थ वन सकेंगे। अपेक्षा है, इस विन्दु पर गंभीरता से चिन्तन किया जाए। अणुव्रत-आदोलन जन-जन को मानवीय आचार सहिता मे ढालने का उपक्रम है। आप इस उपक्रम को समझने का प्रयास करें, इसकी नियमावली को संकल्प रूप में स्वीकार करे। निश्चित ही आपका जीवन मानवीय गुणों की महक से महक उठेगा। आप अपने जीवन की सार्थकता महसूस करेंगे।

वम्वई
२७ जुलाई १९५४

## २७. धर्म जीवन-शुद्धि का साधन है

भारत धर्मप्रधान देश है। पर इसका अर्थ यह नही कि संसार के अन्यान्य देशों मे धर्म नही है या वहा की जनता धर्म की आराधना नही कर सकती। दूसरे-दूसरे देशो मे भी धर्म की वात चलती है, वहां के नागरिक अपनी-अपनी आस्था के अनुसार धर्म की आराधान भी करते है, पर इतना सुनिश्चित है कि भारत की जनता के धर्म के संस्कार अन्यान्य देशो की जनता की तुलना मे गहरे हैं। यही कारण है कि भारतवर्ष को धर्मप्रधान देश के रूप में प्रतिष्ठा मिली है।

### धर्म की सर्वत्र प्रतिष्ठा

मैं मानता हूं, किसी भी देश का धर्मप्रधान देश के रूप मे प्रतिष्ठित होना अपने-आपमे सौभाग्य की वात है। भारतवर्ष के लिए भी यह सौभाग्य की वात है। यहां के प्राचीन वाङ्मय मे जहा ऋषियो, विचारको, लेखको ने धर्म की गौरव-गाथाएं गाईं, वही राजनीति ने भी धर्म को भुलाया नही। ऋषियो ने जहां धर्म को उत्कृष्ट मगल के रूप मे व्याख्यायित किया, वहां राजनीति मे भी एक उच्च मूल्य के रूप मे उसकी प्रतिष्ठा वनी रही। वडे-वडे राजे-महाराजे धर्म-गुरुओं की पदरज को अपने मस्तक पर लगाकर धन्यता की अनुभूति करते रहे। धर्म की यह श्रद्धा और प्रतिष्ठा सदा वनी रहे, जनता आत्म-पवित्रता से साधन के रूप में उसकी आराधना करती रहे, इसी मे सबका हित है।

### धर्म स्वार्थ-पोषण का साधन क्यों ?

धर्म जहा आत्म-पवित्रता का साधन है, जीवन-शुद्धि का मत्र है, वही आज कही-कही उसका दुरुपयोग भी होने लगा है। लोग धर्म के नाम पर अपना स्वार्थ-पोषण कर रहे हैं। अनेक प्रकार की वुराइया धडल्ले से धर्म के नाम पर चल रही हैं। व्यापारी ब्लैक-मार्केटिंग करते हैं। जव उनसे पूछा जाता है कि तुम लोग यह बुराई क्यो करते हो तो उनका उत्तर मिलता है—हम ब्लैक-मार्केटिंग करते हैं तो क्या, दान भी तो करते हैं। मैं पूछना चाहता हूं, इसे दान कहा जाए या दान की ओट मे स्वार्थ का पोषण ? धर्म के नाम पर ऐसा करना सचमुच लज्जा की वात है। पर लज्जा

से भी अधिक यह गंभीर चिन्ता का विषय है।

## क्या धर्म अफीम है ?

मैं देख रहा हूं कि आज के पढ़े-लिखे लोग धर्म से कटते जा रहे हैं। वे उसे जीवन के लिए कोई आवश्यक तत्त्व नही देखते। कुछ लोग तो उसे अफीम तक कह रहे है। परन्तु यह निष्कारण नही है। आज धर्म का सही रूप लोगो के सामने प्रगट नही हो रहा है। उसके स्थान पर बाह्य आडम्बर सामने आ रहे हैं। मैं मानता हूं, यदि धर्म केवल बाह्य आडम्बर सिखाता है तो वह अफीम जैसा ही कार्य करता है। ऐसी स्थिति में उसे अफीम कहा जाता है तो कोई अनुचित बात नही है। पर सचाई यह है कि बाह्य आडम्बर से धर्म का कोई दूर का भी संबंध नही है। अपने वास्तविक स्वरूप में वह आत्म-पवित्रता या जीवन-शुद्धि का साधन है, बल्कि इससे भी आगे वह जीवन का सबसे बडा आधार है। उसके बिना मनुष्य जी भी नहीं सकता। ऐसा धर्म किसके लिए उपादेय नही होगा।

## धर्म का प्रथम सूत्र

बन्धुओ ! यों तो धर्म के अनेक सूत्र बताए जा सकते हैं, पर उसका पहला और सबसे महत्त्वपूर्ण सूत्र है—किसी को दुःख मत दो, किसी को मत सताओ। एक शब्द मे हम इसे अहिंसा कह सकते हैं। यह अहिंसा का सूत्र जितना अधिक प्रसरणशील बनता है, भाईचारा और विश्व-बन्धुत्व की भावना को फैलने का उतना ही अधिक अवसर मिलता है। व्यक्ति-व्यक्ति अहिंसा के सूत्र को जीवनगत बनाए—व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और स्वयं धर्म के उज्ज्वल भविष्य के लिए यह नितात अपेक्षित है।

बम्बई
१ अगस्त १९५४

# २८. अनेकांत

## दो प्रकार की दृष्टियां

हमारे सामने दो प्रकार की दृष्टियां हैं—एकात दृष्टि और अनेकांत दृष्टि। एकात दृष्टि वस्तु को मात्र एक दृष्टि से देखती है। एकांत की जो विरोधी दृष्टि है, वह है—अनेकांत दृष्टि। अनेकात दृष्टि मे वस्तु को भिन्न-भिन्न दृष्टियों से देखा जाता है, परखा जाता है। एकांत दृष्टि से जहां दर्शन और व्यवहार के क्षेत्र मे पग-पग पर बाधाएं आती हैं, वहां अनेकांत दृष्टि से वे सारी बाधाएं दूर हो जाती है। इससे आप समझ सकते हैं कि अनेकांत की क्या उपादेयता है।

## अनेकांत की पृष्ठभूमि

जैन-दर्शन मे अहिंसा का क्या स्थान है, यह आप सब लोग जानते हैं। अहिंसा को वहा सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है। हिंसा के तीन प्रकार हैं—कायिक हिंसा, वाचिक हिंसा और मानसिक हिंसा। कायिक हिंसा हिंसा का स्थूल रूप है। वाचिक हिंसा उससे कुछ सूक्ष्म है। माननिक हिंसा हिंसा का सबसे सूक्ष्म रूप है। अधिकांश धर्म कायिक हिंसा से बचने की बात करते है। किसी-किसी धर्म में वाचिक हिंसा से बचने की अवधारणा भी है। पर जैनधर्म कायिक और वाचिक हिंसा से भी आगे मानसिक हिंसा से बचने की बात करता है। वह कहता है, अहिंसक बनने के लिए किसी को न मारना और कड़ी जबान न कहना ही पर्याप्त नही है, अपितु दूसरो के विचारों की हत्या न करना, उन पर अपने विचार न थोपना भी व्यक्ति के लिए आवश्यक है। दूसरों के विचारो को सही ढंग से न समझना, उन्हे भ्रांत रूप में दूसरों के समक्ष रखना बहुत बड़ा अन्याय है। विचारों की तोड़-मरोड़ से हजारों-हजारों व्यक्ति सदिग्ध बन उन्मार्गगामी बन जाते हैं। इसलिए अहिंसा की साधना के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि व्यक्ति और समाज की विचारधारा के प्रति, उसकी आचार-मर्यादाओ/परम्पराओ के प्रति न्याय किया जाए—उन्हे अयथार्थ रूप में ग्रहण न किया जाए, भ्रांतरूप मे दूसरो के समक्ष न रखा जाए। यही अनेकांत की पृष्ठभूमि है।

अनेकांत अहिंसक जीवन मे ही फलित होता है। एकात की ओर

झुकने वाली दृष्टि हिंसक बन जाती है। हर व्यक्ति यह चाहे कि मैं जैसा मानता हूं, वैसा ही सब मानें, जो मैं करता हूं, वही सब करें, सिद्धांत रूप में सभी उसी रूप मे कार्य करें, जैसे कि मैं करता हूं—यह आग्रह ही छोटी-बड़ी विभिन्न समस्याओ का मूल है। एकांत से आग्रह, आग्रह से असहिष्णुता, असहिष्णुता से विरोध—इस प्रकार हिंसा क्रमशः बढ़ती चली जाती है। इसके विपरीत अनेकात व्यक्ति को इस मानसिक हिंसा से बचने का मार्ग प्रशस्त करता है। इस सिद्धात को स्वीकार कर व्यक्ति चिन्तन की व्यापकता, हृदय की उदारता और दूसरो के साथ असहमत होते हुए भी मानसिक संतुलन बनाए रखने की क्षमता प्राप्त कर सकता है।

## अनेकांत से सधता है समन्वय

अनेकात समन्वय की पृष्ठभूमि तैयार करता है। इस सिद्धात को अपनी चिन्तनशैली बनाकर व्यक्ति विचार-भेद मे भी अविरोध देखता है। बिलकुल विरोधी-से-विरोधी लगनेवाले विचार के साथ भी समन्वय का कोई-न-कोई सूत्र उसे प्राप्त हो जाता है। आप देखें, सामाजिक एवं राष्ट्रीय आवश्यकता और उपयोगिता के कार्यों को कोई व्यक्ति धर्म की प्रेरणा से करता है तो कोई पुण्य की प्रेरणा से। कोई सामाजिक एवं राष्ट्रीय कर्तव्य की प्रेरणा से करता है तो कोई राष्ट्रीय हित की प्रेरणा से। समझने की बात यह है कि यह दृष्टि-भेद है, किन्तु कार्य-भेद तो नहीं है। समाज और राष्ट्र का दायित्व जो लेता है, वह उसकी अपेक्षाएं भी पूरी करता है। इसमें कहां दो मत हैं?

एक व्यक्ति मेरे पास आया। उसके दिमाग मे यह भ्रात अवधारणा जमी हुई थी कि तेरापन्थी लोग सार्वजनिक कार्यो मे धन नही लगाते, हिस्सा नही लेते। किन्तु बाद मे असलियत प्रगट हुई और उसे महसूस हुआ कि यह उसकी भ्राति है। उसने मुझसे पूछा—"तेरापन्थ का विरोध क्यो है?" इसका उत्तर मैं क्या दूं? प्रवचन सुनने या पुस्तक पढ़ने मात्र से तत्त्व समझ में कैसे आ सकता है। उसके लिए तो सर्वांगीण रूप से अध्ययन करना आवश्यक है। कौन किस भूमिका में, किस अपेक्षा से क्या कहता है, इस पर दृष्टि डाले बिना सत्य नही मिलता। कोई कहता है—अभी दिन है। दूसरा कहता है—अभी रात है। अब प्रश्न है, यथार्थ क्या है? आप कह सकते हैं, दोनो मिथ्या नही तो कम-से-कम एक तो मिथ्या अवश्य है। पर यह यथार्थ नही है। यथार्थ यह है कि अपेक्षाभेद से दोनो सच्चे हैं। यहां दिन है तो अमेरिका मे रात हो सकती है। जैन भूगोल के अनुसार यहां दिन है तो महाविदेह क्षेत्र मे रात होती है। क्षेत्र की अपेक्षा जुड़ी कि दोनों बातें सच हो गईं। विरोधी विचारों मे समन्वय का आधार-सूत्र सापेक्षा दृष्टि है।

सापेक्ष दृष्टि के जरिए कई धर्मों मे समन्वय स्थापित करनेवाला एक श्लोक मिलता है—

**वैदिको व्यवहर्तव्यः, कर्तव्यः पुनराहतः ।**
**श्रोतव्यो सौगतो धर्मो, ध्यातव्यः परमः शिवः ॥**

इस श्लोक मे वैदिको के दैनिक विधि-विधान, वौद्धो की मध्यम प्रतिपदा और शैवो की ध्यान-पद्धति की ओर ध्यान खीचा गया है । अहिंसक मे आग्रह नही हो सकता । उसकी दृष्टि गुणग्राही वन जाती है । वह अच्छाई को हर कही से ले लेता है । 'मेरे जैसा कोई नही'—यह आग्रही दृष्टि है, हिंसक दृष्टि है । इस दृष्टि मे विचारो के परिमार्जन का अवकाश नही रहता, जवकि सचाई यह है कि विचारो मे परिमार्जन का अवकाश सर्वज्ञ वनने तक वना ही रहता है । 'यह विचार अन्तिम ही है'—यह कथन सामान्य ज्ञानी का विपय नही है ।

अविरोधी एक साथ रह सकते हैं, रहते है, इसमे आश्चर्य जैसी कोई वात नही है । पर परस्पर तीन-छह की तरह विरोधी होकर साथ रहना आश्चर्य की वात है । अनेकात से यह आश्चर्य भी सहज वन जाता है । यह अनेकांत विरोधी धर्मों मे भी अविरोधी वातावरण निर्मित कर देता है । इसलिए विरोधी धर्मों मे भी सह-अस्तित्व की स्थिति वन जाती है । एक वाक्य में कहूं तो अनेकांत विरोधी धर्मो का सगम है ।

## समन्वय क्या है ?

अनेकात दर्शन है, दृष्टि है । उसके निरूपण की पद्धति का नाम है स्याद्वाद । अनेकात और स्याद्वाद दोनों ही समन्वय की दिशाएं हैं । कुछ लोग समन्वय के अर्थ के प्रति वहुत भ्रांत हैं । वे दो वस्तुओ के एक हो जाने का समन्वय समझते हैं । लेकिन यह समन्वय का सही अर्थ नही है । समन्वय का सही अर्थ है—सभव हो वहा तक ऐक्य और जहा ऐक्य नही, वहां मध्यस्थता । हाथ की पांचो अंगुलियां एक समान नही होतीं। किन्तु वे परस्पर विरोधी भी नही हैं । मैं धर्म-समन्वय के वारे मे वहुधा कहा करता हूं कि उसका अर्थ यह नही कि सव धर्म-संप्रदाय एक हो जाएं । समन्वय से मेरा अभिप्राय यह है कि संकुचित मनोवृत्ति और परस्पर वैर-विरोध की भावना का समापन हो जाए। अगर शब्दो के झगडों से सलक्ष्य वचा जा सके तो तात्त्विक समन्वय वहुत दूर तक सध सकता है । आप देखे, वैदिक सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय मानते हैं । जैन की दृष्टि मे वह अनादि अनंत है, लेकिन प्रत्येक पदार्थ में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य होता है ।

वस्तुतः सृष्टि की तीन दशाओ और पदार्थ की तीन दशाओ मे कोई मौलिक अन्तर नही है । अन्तर इतना ही है कि वैदिक इन शक्तियो के प्रतीक

व्यक्तियों—ब्रह्मा, विष्णु और महेश को मुख्य मानते हैं और जैन इन शक्तियों को ही। यही बात ईश्वरकर्तृत्व के विषय में भी है। वैदिक कहते हैं कि सृष्टि का कर्ता परमेश्वर है। जैन कहते हैं कि आत्मा ही परम ईश्वर है, वह कर्ता है। एक कहता है—ईश्वर सर्वव्यापी है। दूसरे के विचार में समूचा जगत् ही चेतन से व्याप्त है। इस प्रकार सत्य बाहरी आवरणों से बंधने पर भी मूल में तो सुरक्षित ही है।

## तत्त्व-चिंतन और स्याद्वाद

तत्त्व-चिंतन में स्याद्वाद के चार मुख्य रूप हैं—**"स्यान्नाशि नित्यं सदृशं विरूपं, वाच्य न वाच्य सदसत्तदेव।"** अर्थात् जो नित्य है, वह अनित्य भी है। समान है, वह असमान भी है। वक्तव्य है, वह अवक्तव्य भी है। सत् है, वह असत् भी है। एकांततः कोई भी पदार्थ न नित्य है, न समान है, न वाच्य है और न सत् है। इसी प्रकार एकांततः न कोई पदार्थ अनित्य है, न असमान है, न अवाच्य है और न असत् है। इस पर कुछ लोग कह देते हैं कि स्याद्वाद संशयवाद है। यह स्याद्वाद को सही रूप में न समझने का परिणाम है। आप इस बात को समझें कि जो वस्तु जिस अपेक्षा से नित्य है, वह उस अपेक्षा से अनित्य नहीं है। अनित्य वह दूसरी अपेक्षा से है। चेतन और अचेतन दोनों द्रव्य हैं। इसलिए द्रव्य की मर्यादा से दोनों समान हैं, किन्तु चैतन्य और अचैतन्य की मर्यादा से दोनों दो हैं। अमुक मनुष्य विद्वान् है। वह वक्ता भी है, लेखक भी है, और-और भी है। पर एक काल में एक शब्द द्वारा वक्तव्य धर्म तो एक ही है। सबको एक साथ नहीं कहा जा सकता। पुरुष पुरुषत्व की अपेक्षा से पुरुष है, किन्तु स्त्रीत्व की अपेक्षा से उसकी सत्ता नहीं है।

## अनेकांत और आचार

कुछ लोग ऐसा कहा करते हैं कि अनेकांत का उपयोग केवल तत्त्व-चिन्तन में ही होता है, आचार में उसका कोई उपयोग नहीं है। कुछ अंशों में यह बात सही हो सकती है, पर पूर्ण सही नहीं है। अनेकांत के लिए आचार का क्षेत्र भी खुला है। वैसे भी जो बात तत्त्वचिन्तन में है, वह व्यवहार में भी होनी चाहिए। अनेकांत का हमारे व्यवहार में प्रयोग हो तो बहुत-सारी उलझनें अपने-आप समाप्त हो जाएं। जहां अनेकांत का प्रयोग नहीं होता, वहां चाहे-अनचाहे व्यक्ति छोटी-छोटी बातों की उलझन में फंस जाता है। इसीलिए भगवान महावीर ने अनेकांत दृष्टि का उपदेश दिया। उन्होंने कहा कि सत्य को कभी एक दृष्टि से नहीं तौला जा सकता। आगम की निम्न गाथा देखें—

**जे केइ खुड्डगा पाणा, अदुवा संति महालया।**
**सरिसं तेहिं वेरं ति, असरिसं ति य णो वए ॥**

—छोटे और बड़े जीवों की हिंसा में वैर या पाप समान होता है या न्यूनाधिक—यह नहीं कहना चाहिए। मानसिक भाव आदि की इतनी विचित्रताएं हैं कि छद्मस्थ इसे सही-सही नही तौल सकता।

अनेकांत को व्यवहार मे स्थान देकर पारिवारिक, सामाजिक एव राष्ट्रीय विभिन्न समस्याओं को वहुत आसानी से सुलझाया जा सकता है। राजनैतिक क्षेत्र में वार-वार यह स्वर मुखर होता है कि हम एक-दूसरे को समझने की कोशिश करें और सहन करे। मैं पूछना चाहता हूं, क्या यह अनेकांत नही है ? मैं मानता हूं, यह अनेकात का दर्शन जीवन की सुखद यात्रा के लिए राजपथ है।

## सिद्धांत का दुरुपयोग न हो

अनेकांत जैन तीर्थंकरों की अनुपम देन है। इसका यदि सदुपयोग किया जाए तो यह वरदान सिद्ध होता है। वैसे कोई दुरुपयोग ही करे तो किसी भी अच्छी-से-अच्छी और कीमती-से-कीमती चीज का भी अवमूल्यन कर सकता है। अति स्वार्थी लोगों की जाने यह कैसी मानसिकता होती है कि वे अच्छी वात का भी गलत उपयोग कर लेते हैं। मैं देखता हूं, कुछ लोग संस्थाओं के कार्यकर्ताओं को पैसा देना नही चाहते। कहते यह हैं कि हमारे धर्म मे देने की मनाही है। चदा आदि देने से पाप होता है। पर मेरी दृष्टि मे यह सिद्धांतवादिता नही, स्वार्थ का पोपण ही है। अपनी धनासक्ति एवं कंजूसवृत्ति को ढ़कने का प्रयत्न है। उनकी धर्म में देने की मनाही और पाप होने की वात सुनकर लोग सोचते हैं—पचमजिली हवेली वनाते समय, विवाह के समय पानी की तरह धन वहाते समय और शोषण कर धन कमाते समय धर्म मनाही नही करता, पाप नही वताता और सार्वजनिक कार्यों के लिए पैसा देने मे धर्म मनाही करता है, पाप वताता है, यह कैसी विडंवना है ! ऐसा क्या धर्म है। इससे धर्म और धर्मगुरु वदनाम होते हैं। लोगो के मन मे उनके प्रति अश्रद्धा की भावना पैदा होती हैं। इसलिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि किसी भी सिद्धात का दुरुपयोग नही होना चाहिए । यह वात मैं इसलिए कह रहा हूं कि लोग अनेकात जैसे सिद्धात का भी दुरुपयोग कर लेते हैं। यह सर्वथा अनुचित है।

विपय वहुत लम्वा-चौड़ा है, प्रिय भी है। जी चाहता है, कहता ही चलू। पर समय की अपनी सीमा होती है । इसलिए अधिक नही कहा जा सकता। वैसे अधिक कहने से होगा भी क्या। काम तो होगा, थोडे मे ही अधिक समझने से। गौतम स्वामी ने भगवान महावीर से पूछा—"भगवन् !

तत्त्त क्या है ?" भगवान ने कहा—"उत्पाद।" गौतम स्वामी की जिज्ञासा शांत नही हुई। अतः फिर पूछा—"भगवन् ! तत्त्व क्या है ?" इस बार भगवान ने कहा—"व्यय।" गौतम स्वामी फिर भी समाहित नही हुए। तीसरी बार और पूछा—"भगवन् ! तत्त्व क्या है ?" भगवान ने उत्तर दिया—"ध्रौव्य।"

उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य की इस त्रिपदी को प्राप्त कर गौतम स्वामी के ज्ञान-चक्षु खुल गए। इसके आधार पर उन्होंने भगवान महावीर की वाणी का गुंफन करना शुरू कर दिया और द्वादशांगी की संरचना कर दी। तात्पर्य यह कि तत्त्व को पकड़ने की दृष्टि चाहिए। यदि यह दृष्टि प्राप्त हो जाए तो व्यक्ति संक्षेप मे कही गई बात से भी तत्त्व को आत्मसात् कर सकता है। आप सब भी इस दृष्टि से सम्पन्न बनें और अनेकांत को हृदयंगम करें, यही अपेक्षा है।

सिक्कानगर (बम्बई)
१० अगस्त १९५४

# ३०. विद्यार्थी जीवन : जीवन-निर्माण का काल

मेरे समक्ष वडी संख्या मे विद्यार्थी उपस्थित हैं । विद्यार्थी-जीवन कच्चे घड़े की तरह होता है । उसको चाहे जैसा वनाया जा सकता है । यह वह समय है, जवकि जीवन मे सस्कार ढलते हैं । इससे इसके माहात्म्य को आंका जा सकता है । इस महत्त्वपूर्ण समय का उपयोग अत्यन्त जागरूकतापूर्वक होना चाहिए । भारतवर्ष के विद्यार्थियों को यह समझना है कि वे उस सास्कृतिक परम्परा से जुडे हुए हैं, जिसमे जीवन-मूल्य धन-वैभव नही, भोग-विलास नही, वल्कि आत्म-पवित्रता, ज्ञान और चरित्र हैं । इसलिए उन्हें अपने जीवन मे शुरुआत से ही इन सास्कृतिक गुणो के सचय की दृष्टि से जागरूक रहना है । फलत: उनका भावी जीवन अपनी संस्कृति के अनुरूप वन सके ।

## विद्यार्थी : राष्ट्र के भविष्य-निर्माता

भारत एक धर्मप्रधान देश कहा जाता है । इस दृष्टि से यहा के ऐतिहासिक पृष्ठ अत्यन्त उज्ज्वल हैं । पर खेद है कि आज उसी भारत के नागरिकों का जीवन धार्मिक भावना एवं नैतिक निष्ठा से शून्य हो रहा है । ऐसी स्थिति में राष्ट्र के प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य है कि वह इस कालिमा को धो डालने के लिए प्राणपण से कटिवद्ध हो जाए । इसकी सर्वाधिक जिम्मेवारी विद्यार्थियो पर है, क्योकि राष्ट्र के भविष्य-निर्माता वे ही हैं । देश और समाज का भावी ढाचा कैसे वनेगा—यह आज के विद्यार्थियों पर ही निर्भर है । वे अपने-आपको जितना अधिक संयत, [illegible]त और शिक्षित वनाएंगे, उनका जीवन उतना ही विकसित, समुन्नत [illegible]ी वन सकेगा । समाज और राष्ट्र को भी वे एक वहुत वडी देन दे

का मूल्य समझ सकते हैं।

भारत अपने प्राचीनकाल से उज्ज्वल चरित्र के लिए सारे संसार में प्रतिष्ठित था। आज वह प्रतिष्ठा गिरी है। इसलिए अपेक्षा है कि जन-जन में चरित्र के प्रति निष्ठा जागृत हो। चरित्र जीवन का सर्वोच्च तत्त्व बने। इससे ही भारतवर्ष अपने खोए गौरव को पुनः प्राप्त कर सकेगा।

चीचवंदर (बम्बई)
११ अगस्त १९५४

# ३१. निर्माण की आवश्यकता

भारतवर्ष के इतिहास के पृष्ठों को उलटने से यह ज्ञात होता है कि प्राचीनकाल मे दूर-दूर से विदेशी यात्री सस्कृति और ज्ञान सीखने के लिए यहा आया करते थे। अनेक यात्रियो ने अपने यात्रा-सस्मरण लिखे हैं। उन संस्मरणों मे लिखा गया है—भारत वह देश है, जहां ज्ञान, सदाचार और समता की पावन त्रिवेणी वहती है।'' ''''' किन्तु उसी भारत की आज जो दुरवस्था हो रही है, उसके वारे में कुछ कहते नही वनता। प्राचीन गौरव मात्र स्मृति का विषय रह गया है। उस प्राचीव गौरव के मात्र गीत गाने से कुछ वनने का नहीं है। आज तो आवश्यकता इस वात की है कि भारत के नागरिक अपने उज्ज्वल चरित्र से एक नया इतिहास रचें। एक प्राचीन कवि ने इस आशय की वात कही है—जो व्यक्ति अपने कर्तृत्व से ख्याति प्राप्त करते हैं, वे उत्तम कोटि के व्यक्ति है। वाप-दादो की ख्याति से अपनी ख्याति स्थिर रहे, यह लम्वी अवधि तक सम्भव नही है। मैं चाहता हूं कि भारतवासी आज के भौतिकवादी और अर्थप्रधान युग मे अध्यात्म, नीति और सयम की चेतना को जागृत करे। विद्यार्थी इस कार्य मे निर्णायक भूमिका निभा सकते हैं। वे जीवन की कीमत समझें। उसे दुर्व्यसनों मे डालकर व्यर्थ ही नप्ट न करें। धूम्रपान और मद्यपान से वचें। हिंसा किसी भी समस्या का समुचित समाधान नही है। इसलिए वे तोड़-फोड़-मूलक हिंसात्मक प्रवृत्तियो से अपने को सलक्ष्य दूर रखें। आज ध्वंस की नही, निर्माण की आवश्यकता है। सद्विचार और सदाचार—ये दो ही ऐसे सूत्र हैं, जिनको स्वीकार कर निर्माण का कार्य किया जा सकता है। मैं चाहता हूं, विद्यार्थी इन दोनो सूत्रो को स्वीकार कर विश्व के सामने एक नया आदर्श उपस्थित करे, भारत की खोई हुई प्रतिष्ठा को पुनः प्राप्त करे।

सिक्कानगर (वम्वई)
१७ अगस्त १९५४

# ३२. शिक्षा का उद्देश्य

## शिक्षा किसी की बपौती नहीं

भारतवर्ष के इतिहास पर जब दृष्टिपात करते है, तब यह बात बहुत स्पष्ट रूप से सामने आती है कि प्राचीनकाल में भारतीय समाज में महिलाओ की स्थिति अच्छी थी। लेकिन मध्यकालीन युग में कुछ विकृतियां आईं। **'स्त्रीशूद्रौ नाधीयताम्'** (स्त्री और शूद्रो के लिए अध्ययन वर्जित है।) जैसे सूत्रों की सृष्टि हुई। महिलाओ को शिक्षा देना अनावश्यक ही नही, अनुचित भी माना जाने लगा। किन्तु आज युग ने करवट बदली है। अनुचित रूढ़ियो के बंधन शिथिल होते जा रहे हैं। स्त्री-शिक्षा का लोग माहात्म्य समझने लगे हैं। उसकी उपयोगिता और अपेक्षा बहुत गहराई से समझी जाने लगी है। इसीलिए लड़कियो को भी लड़कों की तरह पढ़ाने की प्रवृत्ति चल पड़ी है। हालांकि इस क्षेत्र मे अभी सर्वत्र एक सरीखी जागृति नही आई है, पर जब प्रवृत्ति चल पड़ी है तो आगे-से-आगे बढ़ती रहेगी, ऐसा मानना चाहिए। तत्त्वतः ज्ञान किसी की बपौती नही है। उसकी प्राप्ति का सबको समान अधिकार है।

## जीवन का सच्चा सौंदर्य

मेरे समाने छात्राएं बैठी हैं। मैं उनसे एक बात पूछना चाहता हूं—क्या आप लोगो ने शिक्षा के उद्देश्य के बारे मे कभी चिन्तन किया है? यदि नही किया है तो गंभीरता से चिन्तन करना चाहिए। वस्तुत. शिक्षा-प्राप्ति का उद्देश्य बड़ी-बडी डिग्रिया और प्रमाण-पत्र प्राप्त करना नहीं है। उसका सही लक्ष्य है—आत्मोदय और जीवन-निर्माण। छात्राओ को यह बात समझ लेनी चाहिए कि जिस राजपथ पर उन्हे आगे बढ़ना है, उसकी तैयारी उन्हें अपने इस विद्यार्थी-काल से ही करनी है। तैयारी से मेरा तात्पर्य है कि उनका जीवन सच्चाई, ईमानदारी, सादगी, विनम्रता, करुणा, सौहार्द, समन्वय, धर्मनिष्ठा जैसे सद्‌गुणो से संस्कारित हो। ये गुण उन्हे सही दिशा मे बढ़ने की प्रेरणा बनेंगे। मैं मानता हूं, संयममय चर्या और सद्‌वृत्ति ही जीवन का सच्चा सौदर्य है, सुसज्जा है। छात्राएं इस सौन्दर्य और सुसज्जा का यथार्थ मूल्यांकन कर उन्नति के राजमार्ग पर अग्रसर हों।

सिक्कानगर (बम्बई), १९ अगस्त १९५४

# ३३. आचार और नीतिनिष्ठा जागे

'आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः' यह प्राचीन ऋषियों का स्वर है। इसका अर्थ है—जो व्यक्ति आचारहीन है, जिसका चरित्र गया-गुजरा है, उसे वेद भी पवित्र नहीं बना सकते। बात बहुत गहरी है। जीवन की पवित्रता का सम्बन्ध किसी धर्मग्रन्थ या धर्मसम्प्रदाय से सम्बन्धित नही है। वेद हो या आगम, त्रिपटक हो या कुरान, किसी मे यह क्षमता नहीं कि चरित्रहीन व्यक्ति को पवित्र बना दे। यही बात धर्मसम्प्रदायों के संदर्भ मे भी है। किसी धर्म-सम्प्रदाय या परम्पराविशेष से जुड़ने से जीवन की पवित्रता नही सध सकती। जीवन की पवित्रता सधती है चरित्र से। इसलिए ज्ञान का सार आचार माना गया है। जहां चरित्र का अभाव है, वहा विद्या भारभूत है। पर आज स्थिति कुछ भिन्न ही है। शिक्षा-क्षेत्र की ओर दृष्टिपात करने से यह बात बहुत स्पष्ट नजर आती है कि जीवन का आचार-पक्ष उपेक्षित हो रहा है। चरित्र को जीवन के लिए कोई आवश्यक तत्त्व नही समझा जाता। धर्म और नीति, जो कि जीवन-विकास के आधारभूत तत्त्व हैं, जिनके बिना जीवन सार्थकता को भी प्राप्त नही होता, आज लुप्तप्राय-से होते जा रहे हैं।

## धर्म और नीति

धर्म के सदर्भ मे लोगो मे भ्रांतिया बहुत हैं। लोग धर्म का सम्बन्ध बाह्य क्रियाकाण्डों और धर्मस्थान मे जाने के साथ जोड़ते हैं, जबकि उसका सीधा सम्बन्ध जीवन की पवित्रता से है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, संयम, समता, संतोष आदि की साधना उसका स्वरूप है। नीति का अर्थ है—सहिष्णुता, मैत्री भावना, पारस्परिक सद्भावना, मिलनसारिता। गहराई से देखा जाए तो नीति और धर्म एक-दूसरे के पूरक हैं। इनसे एक तरफ जहां व्यक्ति का आध्यात्मिक जीवन फलता-फूलता है, वही दूसरी ओर उसके सामाजिक जीवन को भी स्वस्थता प्राप्त होती है। मै विद्यार्थियो से कहना चाहता हूं कि वे इन दोनों तत्त्वों को समझे और समझकर इनके साचे मे अपने जीवन को ढालें। निश्चित ही उनका जीवन आत्म-ज्योति से जगमगा उठेगा। उन्हें आंतरिक स्फुरणा और चेतना की अनुभूति होगी। जीवन सुख

और शांतिमय तृप्ति से आप्लावित हो जाएगा। जीवन की सार्थकता प्रकट हो जाएगी।

दुर्भाग्य से आज स्वार्थ का वातावरण इतना गहरा है कि व्यक्ति भटक गया है। उसकी विवेक-चेतना लुप्त होती जा रही है। इस कारण वह अधर्म और अनीति से ग्रस्त हो रहा है। वह आत्मा से हटकर पदार्थ-केन्द्रित हो रहा है। उसकी वृत्ति स्वार्थी वन रही है। इस कारण जहां उसका स्वार्थ सधता है, वहा वह अधर्म और अनीति का सेवन करते कोई संकोच नही करता। जव तक इस स्थिति में सुधार नही होगा, तव तक समाज का सुधार नही हो सकता। विद्यार्थी इस तथ्य को समझें। समझने से मेरा अभिप्राय यह कि वे इस प्रकार की मनोवृत्ति अपने मे न पनपने दे। वे आचार और नीति को सर्वोच्च जीवन-मूल्यो के रूप मे स्वीकार करे। उनके प्रति अपने जीवन की आस्था वनाए। हालांकि मै पुस्तकीय ज्ञान को निरर्थक नही मानता, उसका भी जीवन मे उपयोग है, आवश्यक है, पर इतने मात्र से संतोष कर लेना और यह मान लेना कि आजीविका कमाने की अर्हता प्राप्त कर ली है, उचित नही है। इसका अर्थ है कि उन्होंने जीवन-मूल्यों की सही पहचान नही की है। जैसा कि मैंने प्रवचन के प्रारम्भ में कहा था, विद्या का सार आचार है, इसलिए विद्यार्थीजन सदाचार से जीवन को भावित करे। नीति को जीवव-पथ वनाएं। इन दोनो तत्त्वो की प्राप्ति ही आपकी शिक्षा को सही मूल्य दे सकेगी।

सिक्कानगर (वम्वई)
२० अगस्त १९५४

# ३४. भारतीय संस्कृति के जीवन-तत्त्व

## दृष्टिकोण गुणग्राही हो

इस ससार मे अनेक संस्कृतियां समय-समय पर विकसित हुई। भारतीय संस्कृति भी उनमें से एक है। भारतीय सस्कृति को बहुत प्राचीन सस्कृति माना जाता है। लोग अपने-अपने खान-पान, बोल-चाल, वेश-भूपा, रहन-सहन, रीति-रिवाज आदि को अपनी-अपनी सस्कृतिया कहते हैं और अपने अलग-अलग नामो से सम्बोधित करते हैं। मैं जहा तक सोचता हूं, संस्कृति तो वास्तव मे एक ही है, भले लोग उसे भिन्न-भिन्न नामो से पुकारें। वे सारे सस्कार, जिनके आधार पर हमारे जीवन का निर्माण होता है, सस्कृति के अन्तर्गत आते हैं। इस दृष्टि से हम पूरी संस्कृति को दो रूपों मे विभक्त कर सकते हैं—अच्छी संस्कृति और बुरी सस्कृति। इस सदर्भ में हमारा दृष्टिकोण यह होना चाहिए कि जो भी अच्छे सस्कार हैं, वे हमारे लिए ग्राह्य हैं, हम उन्हे अपनी संस्कृति के रूप मे स्वीकार करें। इसके विपरीत जो गलत संस्कार है, उनसे हम परहेज करें। वे हमारे लिए संस्कृति के रूप मे ग्राह्य नही हैं। भारतीय सस्कृति, जिसे हम अपनी सस्कृति समझते हैं, सत्सस्कारो की सस्कृति है। कोई भी सस्कृति सत्सस्कारो की सस्कृति तभी बनती है, जब उसका दृष्टिकोण गुणग्राही हो। यानी जो भी कोई अच्छा सस्कार हो, उसे वह आत्मसात् कर ले। यदि कही से भी प्राप्त होने वाले सत्संस्कार के प्रति अनुदार वृत्ति रखी जाती है, उसे ग्रहण करने मे मन की सकीर्ण वृत्ति आडे आती है तो वह सस्कृति सत्सस्कारो से समृद्ध नही हो सकती, विकसित नही हो सकती। वस्तुत. जहा उदार और गुणग्राही वृत्ति का जागरण हो जाता है, वहा ऐसी भूल की सभावना नही हो सकती। यह भूल गलत सस्कारो के सरक्षण मे ही हो सकती है।

## आग्रह उचित नहीं

हम इस सचाई को हृदयंगम करे कि जब तक व्यक्ति वीतरागता को उपलब्ध नही हो जाता, केवलज्ञान की भूमिका मे नही पहुच जाता, तब तक वह पूर्ण नही होता। उसका आचरण, चिन्तन नितान्त यथार्थ नही हो सकता। उसकी सस्कृति नितान्त सत्य नही हो सकती। उस भूमिका मे पहुचने

से पूर्व उसमे और उसकी संस्कृति मे सशोधन का अवकाश रहता है। इसलिए किसी के वारे में नितान्त अच्छी या गलत की वात कहना उचित नहीं है। वैसे भी एक तत्त्व किसी को अच्छा लगता है और दूसरे को गलत। इसका कारण है – व्यक्ति-व्यक्ति का तत्त्व को देखने का अपना अलग-अलग दृष्टिकोण। इस स्थिति मे उचित यही है कि व्यक्ति अपनी दृष्टि को सम्यक् वनाकर रखे। दृष्टि को सम्यक् वनाकर रखने से मेरा तात्पर्य है कि वह गुणपरक वने। जव भी उसे लगे कि अमुक वात ठीक नही है तो फिर उसे पकड़े रखने का आग्रह नही होना चाहिए। उसे तुरन्त छोड़ देना चाहिए। इसी प्रकार यदि किसी दूसरे के पास कोई अच्छी वात देखे तो उसे ग्रहण करने में कोई संकोच नही होना चाहिए। दूसरे की होने के वहाने उससे कोई परहेज नही होना चाहिए।

हम इस वात को भी समझे कि अच्छाई और वुराई दोनो सस्कारो से जुडी होती है। संस्कार ऊंचे होते हैं तो संस्कृति भी ऊंची हो जाती है। इसलिए यह नितान्त अपेक्षित है कि हमारे संस्कार ऊंचे वनें, अच्छे वनें। इसके परिणामस्वरूप हमारी सस्कृति भी अपने-आप उन्नत और विकसित होती चली जाएगी।

प्राचीन समय मे भारतवासियो का जीवन सत्संस्कारो से सस्कारित रहा—यह एक प्रामाणिक तथ्य है। प्राचीन विदेशियो ने अपने भारत-पर्यटन के जो संस्मरण लिखे है, वे यहां की संस्कृति की गौरव गाथाएं गाते है। मै मानता हूं, भारत की भूमि ऋषियो की साधना-भूमि है। ज्ञान, दर्शन और चारित्र की त्रिवेणी यहां सतत प्रवाहित होती रही है। ऐसी स्थिति में भारतवासी अपनी सस्कृति पर आत्म-गौरव की अनुभूति करते हैं तो कोई अन्यथा वात नही है।

## चार जीवन-तत्त्व

पूछा जा सकता है, भारतीय सस्कृति के मौलिक जीवन-तत्त्व कौन-कौन-से है ? इस प्रश्न के उत्तर में निम्न श्लोक महत्त्वपूर्ण है—

**शांतं तुष्टं पवित्रं च, सानन्दमिति तत्त्वतः।**
**जीवनं जीवनं प्राहुः, भारतीयसुसंस्कृतौ॥**

सफल जीवन के लिए चार तत्त्व महत्त्वपूर्ण माने गए है—

१. शांत जीवन।
२. संतुष्ट जीवन।
३. पवित्र जीवन।
४. आनन्दमय जीवन।

ये चार बातें भारतीय सस्कृति के जीवन-तत्त्व हैं। हर व्यक्ति को सोचना है कि उसका जीवन इनके अनुकूल है या नही ? यदि है तो बहुत शुभ है। यदि नही है तो ऐसा मानना होगा कि अभी तक भारतीय संस्कृति की आत्मा को समझा नही है, जीवन-तत्त्वों को पकड़ा नही है। भारतीय सस्कृति यह अपेक्षा करती है कि सस्कृति मात्र विचारो तक ही सीमित न रहे, वह जीवन के साथ जुडे, जीवन की संस्कृति बने।

## शांत जीवन

सबसे पहला जीवन-तत्त्व है—शांत जीवन। यह बताने की अपेक्षा नही कि शांति आज के युग का एक बडा ही विकट एवं गंभीर प्रश्न है। शाति को पाने के लिए अशांति के कारण की खोज करनी होगी, क्योकि कार्य है तो उसका कारण भी अवश्य है। अशांति का क्या कारण है ? कुछ लोग अर्थाभाव को कारण मानते हैं। पदार्थाभाव भी इसका कारण बताया जाता है। पर मेरी दृष्टि मे ये दोनो ही मूल कारण नही है। यदि अर्थ और पदार्थ के अभाव के कारण ही अशांति है तो उन राष्ट्रो मे अशांति नही होनी चाहिए, जहा इन दोनो का अभाव नहीं है। पर आप देख रहे हैं कि अर्थ और पदार्थो की दृष्टि से सम्पन्न कहे जानेवाले राष्ट्र भी अशांत है। उन्हे भी भय सता रहा है। भय एक ऐसी स्थिति है कि जिसके कारण व्यक्ति का जीवन निरर्थक-सा हो जाता है। वह जीवन जीता हुआ भी पनपता नही। बधे हुए शेर के सामने बकरी की जो हालत होती है, वैसी ही हालत उसकी हो जाती है। राष्ट्रो की भी तो यही बात है। उन्हे अपना, अपने वैभव का और अपनी राज्यसत्ता के सरक्षण का भय सताता रहता है। इस भय के कारण वे पनप नही पाते। इस भय के कारण ही वे अधाधुंध घातक हथियारो के निर्माण मे लगे हुए हैं। उनसे जब पूछा जाता है कि इतने घातक हथियार क्यो निर्मित किए जा रहे हैं तो उनका उत्तर होता है—आत्मरक्षा के लिए। मैं नही समझता, यदि भय नही है तो रक्षा की बात क्यो ? हथियारों का निर्माण और संग्रह क्यो ? इससे भय की बात स्वय पुष्ट हो जाती है; अशाति की बात स्वयं प्रकट हो जाती है।

यह इस बात की सूचना है कि शाति और अशाति पदार्थ और अर्थ से सम्बन्धित नही है। इसका मूल सम्बन्ध व्यक्ति की अपनी सयत और असंयत वृत्तियो से है। व्यक्ति की वृत्तिया यदि संयमित होती हैं तो वह सहज रूप से शांति की अनुभूति करता है। इसके विपरीत जहां वृत्तियां असंयममय होती हैं, वहां अशाति का बोलबाला होता है। इसलिए शाति की चाह करनेवाले प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह अपेक्षित है कि वह अपनी वृत्तियो को सयम की ओर मोडे। जो व्यक्ति उन्हे जितना अधिक संयम की ओर मोड सकेगा, वह उतनी ही गहरी शाति की अनुभूति कर सकेगा।

वृत्तियो को सयमित करने की बात सुनकर आपको चौकने की अपेक्षा नही है। आप शायद सोचते है कि हम सबको साधु बनने के लिए कहा जा रहा है। हालाकि साधु बनना बड़े सद्भाग्य की बात है, पर मैं इस बात से सुपरिचित हूं कि सब साधु नही बन सकते। सबके साधु बनने की बात अव्यावहारिक है। मैं अव्यावहारिक बात नहीं कहना चाहता। पर इतना अवश्य चाहता हूं कि एक सीमा तक संयम की साधना हर कोई करे। दूसरे शब्दों मे यथाशक्य संयम की साधना तो अवश्य करे। अधिक-से-अधिक अनासक्त रहने का प्रयत्न करे। अनावश्यक संग्रह न करे। गलत साधनो से अर्थार्जन न करे। अपनी आवश्यकताओ को नियंत्रित रखे।

अष्टाग योग का एक अंग है—प्राणायाम। उसमे श्वास को लम्बा लेने और लम्बा छोड़ने की बात बताई गई है। आत्म-शांति का यह एक अच्छा साधन है। साथ ही इससे स्वास्थ्य-लाभ भी प्राप्त होता है। मेरी तो ऐसी मान्यता है कि श्वास-संयम करनेवाले व्यक्ति का स्वास्थ्य सामान्यतः बिगड़ ही नही सकता। वह सहज रूप से स्वस्थ रहता है। यानी श्वास-संयम स्वास्थ्य का भी बहुत बडा हेतु है।

श्वास-सयम की तरह वाणी का संयम भी बडा उपयोगी है। मित-भाषण के बहुत-सारे लाभ हमारे सामने प्रत्यक्ष है। आत्म-शांति का तो यह एक अच्छा साधन है ही। मै अपना निजी अनुभव बताऊ। प्रतिदिन का डेढ़-दो घण्टे का मौन दिन भर की शारीरिक और मानसिक थकावट को दूर कर ताजगी प्रदान करनेवाला है। शक्ति-संचय का यह एक बहुत सरल उपाय है। फिर आत्म-शाति की तो बात ही क्या!

इसी क्रम मे आहार का संयम, निद्रा का संयम, हास्य-विनोद का सयम आदि का भी बडा महत्त्व है। हर व्यक्ति इनका अभ्यास करे। इन्द्रियो का प्रत्याहार करे। चिंतन-मनन का सयम करे। ध्यान-धारणा की दिशा में गति करे। इस प्रकार संयम की साधना में आगे-से-आगे चलते रहनेवाले व्यक्ति से शाति दूर नही रह सकती।

**संतुष्ट जीवन**

भारतीय सस्कृति का दूसरा जीवन-तत्त्व है—सतुष्टि। संतुष्टि का अर्थ है—स्वनियमन यानी स्वतंत्रता। लोग कहते है कि हमने स्वतंत्रता प्राप्त कर ली, हमारे ऊपर अब विदेशी हुकूमत नही है। पर मै तो इससे भी आगे आत्म-नियंत्रण या आत्मानुशासन को अपनाने की बात कहता हूं। मेरी दृष्टि मे आत्मानुशासन वह तत्त्व है, जिसके आ जाने के पश्चात् राज्य का, समाज का, मालिक का ...शासन अनुपयोगी हो जाता है। हालांकि आत्मानु-शासन की साधना की स्थिति मे व्यक्ति से भूल हो सकती है, पर वह भूल की अनुभूति होने पर उसे स्वयं स्वीकार कर लेता है। भूल ही क्यो, उसका

प्रायश्चित्त भी वह स्वयं स्वीकार कर लेता है। परानुशासन की स्थिति मे जहां व्यक्ति दण्ड भोग कर भी असतुष्टि की अनुभूति करता है, वही आत्मानुशासन की इस भूमिका में व्यक्ति प्रायश्चित्त कर आत्म-संतुष्टि प्राप्त करता है।

## पवित्र जीवन

तीसरा जीवन-तत्त्व है—पवित्रता। पवित्रता तभी सध सकती है, जब व्यक्ति वैभाविक प्रवृत्तियों से उपरत होगा। भाषान्तर से ऐसा कहा जा सकता है कि आत्मगुणो का विकास या आत्मरमण ही पवित्रता का एकमात्र साधन है। कुछ लोग साधन-शुद्धि के सिद्धांत मे विश्वास नही करते। वे शुद्ध साध्य के लिए अशुद्ध-साधनो को स्वीकार करने मे कोई बुराई नही देखते। पर मेरी दृष्टि मे यह ठीक नही है। शुद्ध साध्य के लिए साधन भी शुद्ध ही चाहिए। पवित्रता को साधने के लिए अपवित्र साधन उपयोगी नही हो सकता। वह तो पवित्र साधन से ही सध सकती है। इसलिए मैंने आत्म-गुणो के विकास की बात कही, आत्मरमण की बात कही।

## आनन्दमय जीवन

चौथा जीवन-तत्त्व है—आनन्द। स्वस्थ रहने को आनन्द माना जाता है। मै इसे दो रूपों में व्याख्यायित करता हू। 'सु अस्थि अस्ति यस्य स स्वस्थी, तस्य भाव: स्वास्थ्यम्' अर्थात् जिसकी हड्डियां मजबूत हो, वह स्वस्थ है। यह पहली व्याख्या है। दूसरी व्याख्या है—'स्वस्मिन् तिष्ठति इति स्वस्थ:, तस्य भावः स्वास्थ्यम्' अर्थात् व्यक्ति का अपनी चित्तवृत्तियो मे स्थिर होना स्वास्थ्य है। इससे समता उत्पन्न होती है। यह बहुत गहरा तथ्य है। वस्तुत: लाभ-अलाभ, सुख-दु:ख, जीवन-मृत्यु, निंदा-प्रशसा, मान-अपमान आदि द्वंद्वो में सम रहने से ही आत्मानन्द की प्राप्ति होती है।

मैने सक्षेप मे चार जीवन-तत्त्वो की चर्चा की। ये चारो तत्त्व भारतीय सस्कृति की मूल निधि हैं। अगर भारतीय लोग इनको भूलकर भौतिक चकाचौध में फसते है तो मानना चाहिए कि उन्होने भारतीय संस्कृति की इस निधि को पहचाना नही है। इसका यथार्थ मूल्यांकन नहीं किया है। मेरी निश्चित मान्यता है कि भारतवर्ष अपने खोए गौरव को तभी पुन: हासिल कर सकता है, जब यहा के लोग अपनी सस्कृति की इस मूल निधि को पहचानेगे, इसका सही-सही मूल्यांकन करेगे। इसलिए अपेक्षित है कि इस दिशा मे गभीर अध्ययन का कोई उपक्रम शुरू हो। शिक्षा के साथ इस अध्ययन को बुनियादी तत्त्व के रूप में जोड़ा जाए।

बम्बई, २१ अगस्त १९५४

# ३५. आदर्श नागरिक

समाजनीति और धर्मनीति—ये दो तत्त्व हैं। हालाकि समाजनीति और धर्मनीति को एक नहीं किया जा सकता, दोनो को क्षेत्र अलग-अलग हैं, तथापि समाज की सुव्यवस्था एवं स्वास्थ्य के लिए यह नितांत आवश्यक है कि समाजनीति धर्मनीति से अनुशासित हो। धर्मनीति से अनुशासित समाज-नीति मे अन्याय नही हो सकता, निरंकुशता नहीं पनप सकती, अर्थ और सत्ता का उन्माद प्रभावी नही हो सकता। अन्यथा इन बुराइयों की बहुत संभावना रहती है।

## नागरिक की अर्हता

अपने सामाजिक एवं राष्ट्रीय दायित्वो के प्रति जागरूक रहना एक नागरिक के लिए आवश्यक होता है तो अपने धार्मिक दायित्व के प्रति सजग रहना भी उसका काम है। उसे गौण करना कतई उचित नहीं है। धार्मिक दायित्व से मेरा अभिप्राय: यह कि उसके जीवन में सादगी हो। वह सहिष्णु बनकर जिए। ईमानदारी और सत्य के प्रति आस्थाशील हो। मैत्रीभावना से भावित हो। मैं मानता हूं, ये कुछ ऐसे गुण हैं, जो व्यक्ति की नागरिकता को आदर्श के शिखर तक पहुंचाते है। इससे भी आगे मैं तो यहां तक कहता हूं कि व्यक्ति को नागरिक कहलाने की अर्हता भी इन गुणो के द्वारा ही प्राप्त होती है। नगर मे रहने मात्र से ही कोई वास्तव मे नागरिक नही होता। यदि नगर में रहने की गुणात्मकता से ही कोई नागरिक होता तो नगर मे रहने वाले पशु-पक्षी, कीड़े-मकोड़े भी नागरिक की कोटि मे आ जाते। पर हम देखते हैं कि वे नागरिक नही कहलाते। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन को इन गुणो से संस्कारित करे। जहां इन गुणों की कमी होती है, वहां व्यक्ति की नागरिकता तो प्रश्नचिह्नित होती ही है, समाज पर भी उसका बुरा प्रभाव पड़ता है। इसलिए राष्ट्र के प्रत्येक नागरिक का यह कर्तव्य है कि वह अपनी मौलिक गुणात्मकता को सदैव सुरक्षित रखे। उसे किसी भी स्थिति मे खण्डित न होने दे। यदि व्यक्ति-व्यक्ति इस दृष्टि से सजग रहता है तो स्वस्थ समाज और स्वस्थ राष्ट्र की परिकल्पना साकार रूप ले सकती है।

सिक्कानगर (बम्बई), २२ अगस्त १९५४

# ३६. सत्यं शिवं सुन्दरम्

## आत्म-शक्तियों का जागरण कैसे ?

आत्मा अनन्त शक्तियो का पुञ्ज है। पर जब तक वह आवरणमय है, वे शक्तिया अभिव्यक्त नही हो पाती। उनकी अभिव्यक्ति के लिए आत्मा पर रहे आवरणो को दूर हटना अपेक्षित है। आवरण दूर हटे कि आत्मा की अनन्त शक्तियां प्रकट हो जाती हैं। जीवन ज्योतिर्मय बन जाता है। प्रश्न है, ये आवरण दूर कैसे हटते हैं ? इनको दूर हटाने के लिए श्रवण, दर्शन, ग्रहण और आचरण मे अध्यात्मकला का समावेश करना आवश्यक है। श्रवण अध्यात्मकलायुत हो, इसका तात्पर्य यह है कि जो श्रव्य तत्त्व आया, उसमें वह सुना जाए, जो जीवन मे चैतन्य को जागृत कर सके। देखते सब है, पर आध्यात्मकलामय देखना वह है, जिसमे दृश्यमान तत्त्वो मे से जीवन के लिए सारभूत तत्त्वो को ही देखा जाए।

तीसरा स्थान ग्रहण का है। ग्रहण का अर्थ सीधा-सा है—स्वीकार करना, आत्मसात् करना। जो सत्य तत्त्व सुनने मे आया, देखने मे आया, उसे ग्रहण करना अध्यात्मकलामय ग्रहण है। वस्तुतः सत्य और जीवनोपयोगी तत्त्व को सुनने और देखने की उपयोगिता तभी है, जब उसे सम्यक् रूप से ग्रहण किया जाता है। अन्यथा उसकी कोई उपयोगिता नही है। ग्रहण के बाद अध्यात्मकलामय आचरण की बात आती है। सत्य और जीवनविकासी तत्त्व के श्रवण, दर्शन और ग्रहण करने की सार्थकता तभी है, जब उसे आचरण मे ढाला जाए। यदि वह आचरण मे नही आया तो श्रवण, दर्शन और ग्रहण की कोई सार्थकता नही है।

## कला का स्वरूप

गहराई से देखा जाए तो एक बात हमारे सामने बहुत स्पष्ट रूप से आएगी कि कला का सत्य स्वरूप है—जीवन के अन्तरतम की सज्जा, परिष्कार या सस्कार। भारतीय संस्कृति मे कला मनोविनोद या राग का साधनमात्र नही रही, बल्कि उसका मूलभूत लक्ष्य जीवन के अन्त.सौन्दर्य का सर्जन रहा है। जीवन के अन्त.सौन्दर्य के सर्जन की यह कला ही अध्यात्म-साधना के नाम से विश्रुत हुई। इस कला को अपनाकर व्यक्ति आत्मा से

परमात्मा बनने तक की सफलता प्राप्त कर सकता है। भारतवर्ष इस कला के विकास एवं प्रसार की दृष्टि से उर्वर भूमि रहा है। मैं कला के शिक्षार्थियों एवं समर्थकों से कहना चाहूंगा कि भारत के इस पारम्परिक गौरव को दृष्टिगत रखते हुए विकास-पथ पर आगे बढ़ें।

## अहिंसा और सत्य को शिक्षा के साथ जोड़ा जाए

भगवार महावीर ने कहा, करोड़ों पद पढ़े, विद्या प्राप्त की, कला सीखी पर इतना यदि नहीं सीखा कि पर-पीड़न नहीं करना चाहिए तो पढ़ना-लिखना पलालभूत है— निरर्थक है। मै भगवान महावीर के इन्ही शब्दों के आधार पर यह कहना चाहूंगा कि आप अहिंसा को जीवन की सर्वोच्च कला मानें। सत्य को परम विज्ञान के रूप में स्वीकार करें। यदि अहिंसा और सत्य —इन दोनों तत्त्वों की उपेक्षा की गई तो आपकी शिक्षा और कला आपके लिए भारभूत से अधिक कुछ भी सिद्ध नही होगी। अहिंसा और सत्य ये दो ही ऐसे तत्त्व हैं, जो आपके जीवन में सात्त्विकता और पवित्रता का संचार कर सकते है। मै मानता हूं, इससे भिन्न जीवन की और कोई सार्थकता नही है। इसलिए यह अपेक्षित है कि अध्यात्म-कला का प्रतिनिधित्व करने वाले इन दोनों तत्त्वों को शिक्षा के साथ जोडा जाए। इससे ललित कलाओं के विकास के साथ-साथ अध्यात्म-कला में भी निपुणता हासिल हो सकेगी और उसके फलस्वरूप सच्चे सुख और शांति से जीवन जीने का मार्ग प्रशस्त हो सकेगा। भारतीय दृष्टि मे वही सच्ची कला है, जो 'सत्य शिवं सुन्दरम्' के पथ पर आगे बढाने वाली है।

सिक्कानगर (बम्बई)
२४ अगस्त १९५४

# ३७. पर्युषण क्षमा और मैत्री का प्रतीक है

सत्य एक है और उसके शोधक अनेक। सत्य की व्याप्ति एक है और देश, काल और स्थितियां अनेक। इसलिए सत्य अनेक रूपो में विभक्त हो गया। उसकी साधना वहुमुखी वन गई और उसको लेकर जैन, वौद्ध, वैदिक, इस्लाम, क्रिश्चियन आदि अनेक धर्म-सम्प्रदाय वन गए।

हालांकि कुछ लोग धर्म को अस्वीकार करने की वात कहते हैं। पर यह कैसे संभव है। धर्म तो व्यक्ति की आध्यात्मिक अपेक्षा या स्वभाव की ओर गति है। वह इतनी सहज है कि सर्वतोभावेन कोई उससे विमुख हो नही सकता।

## अहिंसा : धर्म का आदि बिन्दु

धर्म की आधार-भित्ति है—आत्मा, उसकी अमरता, क्रिया का दायित्व और परमात्मपद या ईश्वरत्व। हालांकि आत्मा के स्वरूप के वारे में दार्शनिको मे मतभेद है। एक मत यह है कि आत्मा एक ही है। उसके ही विभिन्न रूप हमारे सामने आते हैं। इसके विपरीत दूसरा मत यह है कि आत्माएं अनन्त हैं। किन्तु फलितार्थ मे सुख-दुःख की अनुभूति जैसी एक को होती है, वैसी ही सवको होती है। जीवन की इच्छा और मौत की अनिच्छा भी सवमें समान है। प्रिय की चाह और अप्रिय की अकामना भी एक सरीखी है। इसलिए आत्म-धर्म यही है कि वह किसी के लिए भी अनिष्ट या दु ख का निमित्त न वने। यही अहिंसा का आदि विन्दु है, जो कि सवसे वडा धर्म है।

मैं मानता हूं, साधना के वहुरगी मनको को एक धागे मे पिरोनेवाला यही एकमात्र सिद्धात है। धर्म के जितने भी तत्त्व हैं, उनके केन्द्र मे यही तत्त्व है। सही अर्थ मे धार्मिक वही है, जिसके जीवन मे अहिंसा उतरी है। अहिंसा का मर्म समझनेवाला सहिष्णु होगा। वह लड़ाकू नही हो सकता। अपनी यथार्थ मान्यताओ और धारणाओ मे स्थिर रहता हुआ भी वह दूसरों के प्रति सद्भाव रखेगा। पर मुझे लगता है कि आज अहिंसा जितनी सिद्धांतपरक या विचारपरक वन रही है, उतनी आचरपरक नही है। यही कारण है कि अपने-अपने मत के प्रचार-प्रसार के समय धार्मिक और अहिंसक

कहलाने वाले व्यक्ति भी बौद्धिक एवं वाचिक हिंसा पर उतर आते हैं। इसमें भी आगे कहीं-कहीं तो कायिक हिंसा भी खुलकर सामने आती है। ऐसी स्थिति को देखकर लगता है कि धर्म के पीछे जो संगठन और जातियां बनती है, उनमें अपने विस्तार की भावना अधिक प्रबल बन जाती है, धर्म के मौलिक तत्त्वो के प्रचार-प्रसार और सुरक्षा की भावना गौण। आप धार्मिक जगत् का इतिहास तटस्थ भाव से पढ जाएं। फिर आप भी शायद मेरे इस निष्कर्ष से सहमत हो जाएंगे।

## समस्या विचारभेद की

दूसरी अपेक्षा से देखा जाए तो धर्म का सगठन होता ही नही। वह व्यक्ति का निजस्व है। वह नितांत वैयक्तिक होता है। फिर संगठन ? संगठन होता है धार्मिको का। उसका आधार है—विचार। समान विचार वाले वहुत-सारे व्यक्ति एक वर्ग में बन्ध जाते है। इस प्रकार संगठन बन जाता है। वह रुक नही सकता। इसी के समानांतर विचार-भेद की भी अपनी एक स्थिति है। यह संभव नही है कि विचार-भेद समाप्त हो जाए। विचार-भेद संघर्ष लाता है— छोटा या बड़ा; बौद्धिक, वाचिक या कायिक। इस स्थिति मे यह अत्यन्त अपेक्षित है कि व्यक्ति दूसरो के आचार-विचार की मर्यादा को समझे। उसके प्रति न्याय करे। न्याय कदाचित् न भी कर सके तो कम-से-कम अन्याय तो न करे। यह अहिंसा का सूक्ष्म रूप है। इसकी आराधना के लिए अपेक्षित है क्षमा और मैत्री की भावना का विकास हो। पर्युषण पर्व उसीका प्रतीक है, उसीकी आराधना का पर्व है।

सिक्कानगर (वम्बई)

# ३८. दया का मूल मंत्र

भगवान महावीर ने कहा—**'पुरिसा ! तुमंसि नाम सच्चेव जं हंतव्वं ति मन्नसि ।'** अर्थात् जिसे तू मारना चाहता है, वह तू ही है । वहुत गहरी वात कही है महावीर ने । यह दया का मौलिक मन्त्र है । इस सिद्धांत को वहुत अच्छे ढग से समझने की जरूरत है । वस्तुत मरनेवाला मरकर भी कुछ खोता नही, जवकि मारनेवाला जीवित रहकर भी वहुत कुछ खोता है । मरनेवाले का प्राणनाश होता है, जवकि मारनेवाला अपना आत्मनाश कर लेता है । जव तक यह सिद्धात/विचार हृदयंगम नही होता, तव तक दया सजीव नहीं वनती। मरनेवाले को दूसरे जीवो की हत्या मे अपना अनिष्ट दिखाई पड जाए, तभी वह उसे छोड सकता है, अन्यथा नही । ऊपर के अद्वैतपरक वाक्य मे भगवान महावीर ने यही तत्त्व समझाया है । द्वैतवाद मे मारनेवाला और मरनेवाला दोनों एक नही हो सकते । किन्तु निश्चय मे मरता वही है, जो मारता है । इसलिए मरनेवाला और मारनेवाला दोनो एक वन जाते हैं ।

## गलत अवधारणाएं समाप्त हों

प्रश्न है, अहिंसा का उपदेश जव सभी तीर्थंकरो, ऋषि-महर्षियो ने दिया है, फिर हिंसा का अनिरुद्ध स्रोत क्यो चलता है ? इसका उत्तर वहुत स्पष्ट है । मनुष्य स्वयं को सवसे ऊंचा/श्रेष्ठ मानता है। स्वयं को सवसे ऊंचा/श्रेष्ठ मानने के कारण ही वह अनवरत दूसरे प्राणियो का अनिष्ट करता रहा है । उसके मौलिक अधिकारो को कुचलता रहा है। उन पर अपनी मनमानी लादता रहा है । 'मनुष्य-हित के लिए जो कुछ भी किया जाए, वह सव उचित है' इस मिथ्या अवधारणा के कारण वैज्ञानिक-प्रयोगो की वेदी पर हजारों-हजारो प्राणियों की वलि चढ़ती है । 'जीवन जीने का अधिकार सवको है, सव समानरूप से सुख-दु ख की अनुभूति करते हैं, सवको जीवन प्रिय है, और मौत अप्रिय है' इस वास्तविकता को भूलकर मूक प्राणियो की निर्मम हत्या करने वाले एक महान् सत्य से आंखे मूंदते हैं । इसी प्रकार खाद्य और विलास के लिए भी वहुत वडी हिंसा हो रही है । 'सारी सृष्टि मनुष्य के लिए ही है ।' 'यदि पशु न मारे जाए तो वे सारी धरती पर छा जाएगे ।' .... इस प्रकार की गलत अवधारणाओ के कारण भी वहुत नुकसान

हुआ है । हिंसा को फैलने और फलने-फूलने में ये बहुत बड़ी निमित्त बनी हैं। जब तक ये गलत अवधारणाएं समाप्त नही होती, तव तक जीवदया का मूल्य नही वढेगा। जीवदयाप्रेमियो के लिए यह वहुत आवश्यक है कि वे दया के महान् सिद्धात से सारे संसार को परिचित करवाएं । यदि ऐसा हुआ तो निस्संदेह अहिंसा की आभा सर्वत्र फैलेगी। अहिंसा जीवन का सर्वोच्च मूल्य बनेगी।

# ३९. धार्मिक सद्भाव अपनाएं

## आत्मोत्थान बनाम सम्प्रदाय

धर्म जीवन का सारभूत तत्त्व है। धर्माराधना के विशाल राजमार्ग पर आकर भी दूसरो के प्रति असहिष्णु वन उनको हानि पहुंचाना, गिराने की चेष्टा करना वहुत हलकी वात है, धार्मिक गरिमा के सर्वथा प्रतिकूल वात है। स्पष्ट शब्दों मे कहूं तो यह धर्म की विराधना है। मैं पूछना चाहता हूं, चाहे व्यक्ति किसी भी धर्म-सप्रदाय से सम्वन्धित क्यो न हो, उसकी सत्क्रिया, उसका सत् आचरण वुरा कैसे हो सकता है ? एक हिन्दू ब्रह्मचर्य का पालन करता है वह अच्छा है, तो एक वौद्ध मतावलम्वी पालन करता है, वह भी अच्छा है। उसे बुरा नही वताया जा सकता। वस्तुत: यह सोचना चिन्तन का दारिद्रय ही है कि अमुक सम्प्रदाय मे आने से ही व्यक्ति की मुक्ति हो सकेगी। वस्तुतः आत्मोत्थान का सम्वन्ध किसी सम्प्रदाय-विशेप मे आने से नही, अपितु सद्ज्ञान और सदाचरण से है। इन दोनो तत्त्वो को यानी धर्म को किसी सम्प्रदायविशेप की सकीर्ण सीमा मे नही वाधा जा सकता। धर्म किसी सम्प्रदायविशेप की वपौती नही हो सकता।

## संघर्ष का कारण

मैं देखता हूं, धार्मिक जगत् मे आज तरह-तरह के सघर्ष चल रहे हैं। आपसी वैमनस्य का वातावरण है। ऐसा क्यो ? मेरी दृष्टि से इसका कारण है—सांप्रदायिक कट्टरता। 'मेरे सम्प्रदाय मे ही सत्य है, दूसरे-दूसरे सप्रदायो मे सत्य हो ही नही सकता'—इस प्रकार की सोच व्यक्ति को सांप्रदायिक कट्टरता की ओर अग्रसर करती है। इसलिए इस वात की नितात अपेक्षा है कि धार्मिक लोग अपनी सोच को वदले, अपने दृष्टिकोण को व्यापक और उदार वनाए। अपने सम्प्रदाय के सत्य के प्रति निष्ठाशील रहते हुए वे दूसरे-दूसरे सप्रदायो के सत्य के प्रति गुणग्राही दृष्टिकोण रखे। दूसरो की वात उचित न भी लगे, तथापि व्यवहार के स्तर पर उनके प्रति सद्भावना रखे। किसी के प्रति भी दुर्भावना करना धार्मिकता की दृष्टि से सर्वथा अनुचित है।

## धोखे से सजग रहें

सभी धर्म-सम्प्रदायों के प्रति सद्भावना रखने के उपदेश के साथ-साथ इतना और कह देना चाहता हूं कि धर्म के नाम पर चलनेवाले धोखे और छल से भी लोग सजग रहे ! आज धर्म के नाम पर जितना धोखा और छल चल रहा है, उतना शायद किसी नाम पर नही । इसका कारण यह है कि आम आदमी मे तत्त्व की तह तक पहुचने की क्षमता नही होती और वह इस नाम पर बहुत जल्दी विश्वास कर लेता है । आचार्य भिक्षु ने अपने युग मे धर्म के नाम चलनेवाली दम्भचर्या और छलना का खुलकर पर्दाफाश किया और धर्म के शुद्ध-स्वरूप को जनता के सामने रखा । हम भी उन्ही की संतान हैं । । हमारा काम है कि उनके पदचिह्नो का अनुसरण करते हुए वर्तमान में चल रही दम्भचर्या और छलना से लोगो को सावधान करे और शुद्ध धर्म का माग प्रशस्त करे । अणुव्रत आदोलन धर्म का विशुद्ध स्वरूप है । इस धर्म को स्वीकार कर व्यक्ति गृहस्थ की भूमिका में रहता हुआ भी सात्त्विक और पवित्र जीवन जी सकता है ।

सिक्कानगर (बम्बई)
२७ अगस्त १९५४

## ४०. विद्यार्थी और नैतिकता

दो सप्ताह तक विद्यार्थियो मे नैतिकता के प्रसार का कार्यक्रम वहुत व्यवस्थित एवं सुन्दर ढंग से चला। हमारे आत्मार्थी साधु-साध्वियो तथा निष्ठाशील कार्यकर्ता धूप और अन्यान्य छोटी-वडी असुविधाओं की परवाह न करते हुए मनोयोग एवं तत्परता से इस कार्य मे जुटे रहे, यह अत्यन्त उल्लेखनीय वात है, प्रसन्नता का विषय है। इस अवधि मे लगभग पचपन शिक्षण-केन्द्रों मे प्रेरणा दी गई। मैंने स्वयं विद्यार्थियो की कई सभाओ को सम्वोधित किया। इस सघन प्रयत्न से करीव पाच हजार विद्यार्थियो ने निर्धारित नैतिक नियमो को पालने की प्रतिज्ञा ली। यह अपने-आपमे एक वहुत वडी उपलब्धि है। मुझे ऐसा लगता है कि यदि योजनावद्ध ढग से विद्यार्थियों मे नैतिक संस्कारों के जागरण और वपित करने का व्यापक स्तर पर प्रयत्न किया जाए तो इस दिशा मे वहुत महत्त्व-पूर्ण कार्य हो सकता है। राष्ट्र की अनैतिकता और भ्रष्टाचार की समस्या को वहुत उचित ढग से हल किया जा सकता है। मेरी दृष्टि मे इससे वढकर दूसरा वुनियादी कार्य और कोई हो ही नही सकता। यदि सरकार की ओर से यह कार्य होता तो न जाने उसकी कितनी वडी कीमत आकी जाती, कितना विज्ञापन होता। किन्तु इसका यह अर्थ नही कि हम अकन और विज्ञापन चाहते हैं। हमे इसकी कोई ख्वाहिश नही है। हमें तो काम करना है, केवल काम।

### बढ़ती हुई असहिष्णुता

आज जव मैं विद्यार्थियो की दशा देखता हू, तो मन मे वडा विचार होता है। असहिष्णुता इस सीमा तक वढ गई है कि वे अपने मन के प्रतिकूल जरा-सी वात भी सहन करना नही चाहते। झट तोड-फोड़ व हिंसात्मक कार्यों मे प्रवृत्त हो जाते है। विद्यार्थियो से मैं विशेप वलपूर्वक कहना चाहता हूं कि वे अपने मे सहिष्णुता की वृत्ति विकसित करे। अनुकूल-प्रतिकूल किसी भी स्थिति में अपने दिमागी सतुलन को वनाए रखने की क्षमता पैदा करे। उत्तेजना में ध्वंसात्मक कार्यो मे प्रवृत्त होना कतई उचित नही है, हितकर नही है। वे इस वात को समझे कि ध्वंस की नही, निर्माण की आवश्यकता है। उनकी शक्ति ध्वस मे नही, निर्माण मे लगनी चाहिए।

## हिंसा समाधान नही है

हिंसा की स्थिति हमारे सामने है। हिंसक प्रवृत्तियो और शस्त्रास्त्रो के माध्यम से विश्व में शांति लाने के अनेकानेक प्रयास किए गए। अणुवम और उद्जन वम जैसे मानवविनाशक अस्त्र भी तैयार हुए। अणुवम का तो प्रयोग भी हुआ। पर परिणाम क्या हुआ ? दुःख की गहरी रेखाएं और गहरी हो गई। शाति नजदीक आने के वजाय और दूर चली गई। यही कारण है कि आज संसार के वड़े-वड़े कूटनीतिज्ञ यह सोचने लगे हैं कि हिंसा और युद्ध किसी भी समस्या का स्थायी समाधान नही है। अभी हाल मे ही सुलह की घटनाएं यह स्पष्ट करती है कि पारस्परिक मैत्री भावना या अहिंसक वृत्ति से ही समस्याओ को समाधान की सही राह मिल सकती है। वस्तुतः अहिंसा केवल वोलने और चर्चा करने का तत्त्व नहीं है, अपितु जीवन-व्यवहार मे उतारने का तत्त्व है। हालाकि मै इस तथ्य को स्वीकार करता हूं कि सामाजिक और राष्ट्रीय दायित्वो से वन्धे व्यक्ति के लिए सम्पूर्ण अहिंसा की वात व्यवहार्य नही है। चाहे-अनचाहे उसे अनेक प्रकार की हिसक प्रवृत्तियां करनी ही होती है। पर वावजूद इसके इतना सुनिश्चित है कि जीवन मे अहिंसा का जितना अधिक समावेश होगा, जीवन उतना ही निर्मल, शांत और आनन्ददायक होगा।

## क्या अहिंसा निषेधात्मक है ?

कुछ लोग अहिंसा को मात्र निषेधात्मक तत्त्व मानते है। पर वात ऐसी नही है। अहिंसा निषेधात्मक और विधेयात्मक दोनो ही प्रकार की है। जहा दूसरो की हिंसा करने का निषेध किया जाता है, वही सयम और मैत्री करने की वात भी कही जाती है। यही अहिंसा का विधेयात्मक रूप है। अहं, ममत्व, क्रोध, माया आदि से वचने की वात अहिंसा के अन्तर्गन्त है तो समता, सतोप, क्षमा, ऋजुता, मृदुता आदि को अपनाने की वात भी अहिंसा के अन्तर्गत ही है।

## विद्यार्थीकाल का सदुपयोग हो

मै विद्यार्थियो से हिसात्मक प्रवृत्तियों से वचने की और निर्माण मे अपनी शक्ति लगाने की वात कर रहा था। विद्यार्थी लोग स्वय इस विन्दु पर गंभीरता से चिन्तन-मनन करे और अपनी जीवन-शैली को अहिंसा-प्रधान वनाएं। विद्यार्थीकाल सद्गुण और सद्योग्यता अर्जन करने का काल है। उसका ध्वंस मे उपयोग करना कहा की समझदारी है। विद्यार्थियो को अपने विद्यार्थीकाल का सही-सही मूल्यांकन करना चाहिए। सचमुच, विद्यार्थीकाल जीवन का स्वर्णिम काल है। इस समय वे जीवन का

ढांचा जैसा ढाल लेगे, भावी जीवन की मंजिल वैसी ही वनेगी।

## शिक्षा का उद्देश्य

भगवान महावीर ने कहा है, विद्यार्थी विद्यार्जन करते हुए यह सोचे—मैं वहुश्रुत वनूगा, एकाग्रचित्त वनूगा, मन पर नियंत्रण करूंगा, संयम और सदाचार में अपने-आपको लगाऊगा, ज्ञान व संयम मे स्थिर वनूंगा। भगवान के इस कथन से शिक्षा का उद्देश्य विलकुल स्पष्ट हो जाता है। मैं चाहता हूं कि आज के विद्यार्थी भगवान महावीर के इन विचारों से प्रेरणा लें और अपने विद्यार्जन के लक्ष्य की स्पष्टता प्राप्त करें। लक्ष्य की स्पष्टता लक्ष्य-संसिद्धि की प्राथमिक अपेक्षा है।

विद्यार्थियों में नैतिक भावना जगाने के कार्यक्रम की चर्चा मैने प्रारंभ मे की। जिन विद्यार्थियों ने नैतिक नियम स्वीकार किए हैं, वे उन्हें अच्छे ढंग से निभाएगे, ऐसी आशा करता हूं। इससे स्वयं उनका जीवन तो स्वस्थ वनेगा ही, राष्ट्र का भी वहुत वड़ा हित होगा। इसके साथ ही वे इस कार्य-क्रम को आगे-से-आगे प्रसरणशील वनाने के लिए भी प्राणपण से जुट जाएं, ऐसी अपेक्षा है। अध्यापक, जिनके कि हाथों मे विद्यार्थियो के रूप में राष्ट्र की यह अमूल्य निधि सौपी गई है, अपने नैतिक उत्तरदायित्व को गहराई से समझें, विद्यार्थियो को सुसंस्कारो मे ढालने का प्रयास करें। पर इससे भी पहले वे स्वयं सुसंस्कारित हों, निर्मित हो, यह अपेक्षित है। वे न भूलें कि सुसंस्कारी और निर्मित जीवन ही दूसरों मे सुसस्कार-वपन और निर्माण का आधार वन सकता है।

वम्वई
२९ अगस्त १९५४

# ४१. जैन संस्कृति

## जैन संस्कृति का चरम ध्येय

भारतीय परम्परा में जैन संस्कृति एक प्रमुख संस्कृति है। यह संस्कृति जन-जन को संयम और त्याग की ओर बढ़ने की अभिप्रेरणा देती है। जीवन को भोगोपभोग से उन्मुक्त कर आत्म-तत्त्व की ओर प्रेरित करना इसका चरम ध्येय है। जैन सस्कृति जन-जन को यह कहती है कि धन-संपत्ति एकत्रित करना, नामवारी व यश पाना, प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए दिन-रात मारे-मारे फिरना, बाहरी आडम्बर में मसगूल रहना आदि वातें जीवन को सुख और शांति की अनुभूति नहीं करा सकतीं, बल्कि उनसे और अधिक दूर ले जाती हैं। सुख और शांति का एकमात्र मार्ग है— त्याग और संयम। इसलिए सुख और शांति के इच्छुक व्यक्ति को अपनी इच्छाओं को नियत्रित करना सीखना चाहिए। अपनी आवश्यकताओ को सीमित रखने का प्रयत्न करना चाहिए। अर्थ और भौतिक पदार्थों के संग्रह और उनमें डूबने से बचना चाहिए।

## जैन समाज अपनी संस्कृति को पहचाने

मुझे लगता है आज दूसरों की तो वात ही क्या, स्वयं जैन कहलाने वाले लोग भी अपनी इस सस्कृति को भूल रहे हैं। यही कारण है कि वे भौतिकता की ओर दौडे जा रहे हैं। उनके खान-पान, रहन-सहन, आचार-व्यवहार पर भौतिकताप्रधान संस्कृति प्रभावी होती जा रही है। यह जैनों के लिए गंभीर चिन्तनीय विन्दु है। यदि समय रहते उन्होने इस पर ध्यान नही दिया तो वे अपनी सास्कृतिक पहचान के लिए खतरा पैदा कर लेंगे, जो कि किसी भी स्थिति मे वांछनीय नहीं है। इसलिए यह नितांत अपेक्षित है कि जैन-समाज जागृत हो। वह अपनी संस्कृति को पहचाने। संस्कृति की आत्मा को पहचाने। संस्कृति के जीवन-मूल्यों को पहचाने। पहचानने का अर्थ है कि जैनों के आचार, व्यवहार और चिन्तन में उनकी संस्कृति प्रतिविम्बित हो। उनकी जीवन-शैली और चिन्तन-शैली उनकी सांस्कृतिक सुरभि से सुरभित हो। उनका पास-पड़ोस ही नहीं, वल्कि सम्पर्क में आनेवाला प्रत्येक

व्यक्ति उनसे त्याग और संयम की प्रेरणा ले। भोगों से उपरत होने के लिए अभिप्रेरित हो। आशा करता हू, जैन समाज इसका सकारात्मक उत्तर देगा।

बम्बई
३० अगस्त १९५४

# ४२. कर्मवाद के सूक्ष्म तत्त्व

जैन-दर्शन आत्म-कर्तृत्ववादी दर्शन है। उसके अनुसार व्यक्ति अपने भाग्य का स्वयं निर्माता है। अपना भला या बुरा करना उसके स्वयं के हाथ का खेल है। दूसका कोई किसी का भला-बुरा करने मे समर्थ नही हैं। सुख या दु ख, जो कुछ वह पाता है, भोगता है, वह उसके अपने द्वारा उपार्जित कर्मों का ही फल है। इस पर कुछ लोग ऐसा सोचने लगते है कि ससार मे व्यक्ति-व्यक्ति मे जो पारस्परिक भिन्नता नजर आती है - एक सुखी और एक दु.खी, एक धनी और एक गरीव, एक साधनसम्पन्न और एक साधनविपन्न, एक समझदार और एक नासमझ ………यह सव कर्मजन्य है। इस कर्मजन्य द्वैधपन को कौन मिटा सकता है। और मिटाने का प्रयत्न भी क्यो किया जाए। वे ऐसी भी शंका करने लगते है कि क्या यह सिद्धांत भारतवर्ष पर ही लागू है, साम्यवादी देशो मे नही, जहां आर्थिक समानता का सिद्धांत लागू है। इन सब वातो पर जरा गभीरता से चिंतन करने की अपेक्षा है। जैन-दर्शन का कर्मवाद अत्यन्त सूक्ष्म और तलस्पर्शी है। जहां अन्यान्य दर्शनो में कर्म का अभिप्रेत अर्थक्रिया है, वहा जैन-दर्शन की तात्त्विक व्याख्या कुछ दूसरी ही है। जैन-तत्त्व-चिन्तन के अनुसार कर्म एक पौद्गलिक—भौतिक तत्त्व है। प्राणी की हर छोटी-वडी, सूक्ष्म-स्थूल प्रवृत्ति से कर्म-पुद्गल आत्मा की ओर आकृष्ट होते हैं। प्रवृत्ति यदि शुभ होती है तो शुभ कर्म-पुद्गल आकर आत्मा से चिपक जाते है और प्रवृत्ति अशुभ होती है तो अशुभ कर्म-पुद्गल चिपक जाते है। इस प्रकार आत्मा आवृत होती जाती है। वे ही कर्म पुद्गल अपनी प्रकृति के अनुरूप शुभ और अशुभ परिणाम देते है। कर्म की अभिव्यक्ति के साथ कुछ दूसरे-दूसरे कारण भी जुड़े हुए हैं। जैसे परिस्थिति, क्षेत्र, काल आदि। इसी अपेक्षा से कर्मों को क्षेत्रविपाकी, कालविपाकी आदि कहा गया है।

हम देखते हैं, सुस्वादिष्ट भोज्य पदार्थों को देखकर उस व्यक्ति के मुंह में भी लार टपकने लगती है, जिसे कुछ देर पहले जरा भी भूख नही थी। कामोत्तेजक वातावरण और साधनो के वीच आकर अक्सर व्यक्ति अपनी मन.शुद्धि भी खो वैठता है। आपमे से किसी ने किसी शीतप्रधान प्रदेश की यात्रा की हो या वहां प्रवास किया हो तो यह अनुभव किया होगा कि

वहां भूख की मात्रा बढ़ जाती है। इससे यह बात बहुत स्पष्ट हो जाती है कि कर्म के विपाक के साथ बाहरी अनेक स्थितियो का भी सम्बन्ध रहता है। इसी तरह किसी देश की समाज-व्यवस्था या शासन-व्यवस्था के कारण भी वहां व्यक्तियों के जीवन मे अनायास ऐसी बातें आ जाती हैं, जो उस व्यवस्था के अभाव में शायद नही आती। इस प्रकार कर्मवाद के सूक्ष्म सिद्धात के साथ जो-जो बातें सम्बन्धित हैं, उनका भी सम्यक् पर्यालोचन किया जाना अपेक्षित है।

बम्बई
३१ अगस्त १९५४

# ४३. अपरिग्रहवाद

## अपरिग्रह और सामाजिक विषमता

भगवान महावीर ने धर्म के जिन पांच सूत्रों की चर्चा की, उनमे एक है – अपरिग्रह । एक दृष्टि से देखा जाए तो उन्होने अपरिग्रह पर सर्वाधिक वल दिया है, क्योकि हिंसा आदि के मूल मे परिग्रह ही है । इस एक वात से हम अपरिग्रह के महत्त्व को समझ सकते है । हालाकि अपरिग्रह का मूलभूत लक्ष्य आत्म-शुद्धि है, पर उसके साथ-साथ सामाजिक जीवन पर भी उसकी एक छाप पडती है । जैसे उपवास आदि तपस्या आत्म-शुद्धि की दृष्टि से की जाती है, पर प्रासगिक रूप मे अन्न का वचाव भी सहज होता है । उसी तरह एक व्यक्ति अपने परिग्रह की सीमा करता है, अमुक परिमाण से अधिक सम्पत्ति रखने का परित्याग करता है, तो उस परिमित परिमाण से अतिरिक्त जो सम्पत्ति है, उसका स्वत· औरो मे वितरण और विनियोग हो जाता है । भले परित्याग करने वाले का लक्ष्य आध्यात्मिक है और वही होना चाहिए, पर प्रासगिक रूप में समाज की विपमता भी मिटती है, यह एक तथ्य है । इसे झुठलाया नही जा सकता ।

आज राष्ट्र मे वढ़ती हुई विपमता की समस्या एक ज्वलंत समस्या है । इस समस्या की परिधि मे वर्ग-सघर्ष, हत्या, डकैती जैसी अनेक समस्याए पनप रही हैं । इसका कारण यही तो है कि लोग अपरिग्रह के सिद्धात को भूलकर परिग्रह के पण्डे वन रहे हैं । यद्यपि वात अपरिग्रह के ऊंचे-ऊंचे आदर्शो की बहुत चलती है, पर वास्तविकता यह है कि आचरण और व्यवहार के स्तर पर उसको प्रतिष्ठा प्राप्त नही है । और-तो-और लोग अपरिग्रह के प्रतीक अपने आराध्याराध्य तीर्थंकर भगवान को भी परिग्रह के आवरण मे इस तरह लपेट देते हैं कि कुछ कहने-सुनने की वात नही । मदिर, मठ, धर्म-स्थान आदि उपासना के नही, आडम्बर के केन्द्र वन रहे है । क्या वहा परिग्रह अपरिग्रह पर हावी नही हो रहा है ? मानव चेतन है तथा परिग्रह—धन अचेतन है, जड़ है । चेतन अचेतन का दास वने, यह कितने खेद की वात है ! पर जो स्थिति वनी है, उसे अनदेखा करना भी उचित नही है । चेतनाशील मानव को इस स्थिति से चेतना है ।

## अपरिग्रहवाद बनाम साम्यवाद

कुछ लोग अपरिग्रहवाद और साम्यवाद को एक ही बता देते हैं। यह भूलभरी बात है। यद्यपि अपरिग्रहवाद और साम्यवाद दोनो से ही आर्थिक विषमता मिटाने मे सहयोग मिलता है, तथापि दोनो मे मौलिक अन्तर है। साम्यवाद जहां अर्थनीति की व्यवस्था करता है, पूजी पर वैयक्तिक अधिकार के बदले सामष्टिक अधिकार देता है, वहा अपरिग्रहवाद किसी भी प्रकार के सग्रह का प्रतिरोधक है। वह आत्मा मे अनासक्ति एव सन्तुष्टि का सर्जक है।

बम्बई
१ सितम्बर १९५४

## ४४. खमतखामणा

मानव-स्वभाव ऐसा है कि प्रमाद से या विचार-मतभेद से लोगों मे आपस में मनमुटाव हो जाता है। इस मनमुटाव को मिटाने के लिए खमत-खामणा का मार्ग निर्दिष्ट है। आपस में हिल-मिलकर क्षमा मांगना और क्षमा देना यह खमतखामणा है। कई व्यक्ति कह देते हैं कि दूसरा क्षमा नही करता, तव अपने क्षमा करने से क्या लाभ। यह गलत दृष्टिकोण है। आप सरल हृदय से खमतखामणा कर लीजिए। वस, आपका काम हो गया। आपने अपना कर्तव्य पूरा कर दिया। यदि सामने वाला व्यक्ति खमतखामणा नही करता है तो उसकी वह जाने। उसकी चिन्ता आप छोडो ' उससे आपको तनिक भी नुकसान नही होगा। नुकसान होगा उसे ही। उसकी आत्मा कपाय से मलिन वनी रहेगी। उसके परिणामस्वरूप वह कर्मों का वन्धन करता रहेगा। दो व्यक्ति आपस में एक रस्सी को खींचते हैं। एक व्यक्ति अगर उसे छोड देता है तो न छोडनेवाला दूसरा व्यक्ति गिरता है। छोड़ने-वाला नही गिरता। इसी तरह आप यदि वैमनस्य की रस्सी छोड़ देते हैं, तो आप गिरने से वच जाएंगे। जो नही छोडेगा, वह गिरेगा, चोट उसी के आएगी।

### महास्नान का पर्व

कुछ लोग खमतखामणा तो करते हैं, पर उसका क्षेत्र वहुत सीमित रखते हैं। यानी वे अपने पारिवारिक जनो और मित्रों से खमतखामणा कर अपना कार्य पूरा कर लेते हैं। पर खमतखामणा वहुत व्यापक तत्त्व है। उसका व्यवहार सवके साथ होना चाहिए। व्यवहार के स्तर व्यक्ति का जिस-किसी व्यक्ति के साथ काम पडता है, चाहे फिर वह पास-पड़ोसी हो, व्यापारी हो, मुनीम हो, नौकर हो या अन्य कोई व्यक्ति हो, सवके साथ खमतखामणा करना चाहिए। खमतखामणा का आदर्श तो यहां तक है कि व्यक्ति अपने विरोधियो से भी खमतखामणा करे, वलिक उनसे विशेष रूप से करे, सलक्ष्य करे। हमारे तीर्थकरो ने तो चौरासी लाख जीव योनि—समस्त प्राणी-जगत् से खमतखामणा की वात कही है। जव चौरासी लाख जीव योनि की वात कह दी गई, समस्त पाणी-जगत् की वात कह दी गई

फिर मित्र हो या शत्रु, कोई भी उस सीमा से वाहर कहां रहता है। इसलिए यह सोचना कोई अर्थ नही रखता कि अमुक मेरे से छोटा है, नौकर है या विरोधी है, फिर मैं खमतखामणा क्यो करू। वस्तुत: अध्यात्म के क्षेत्र में व्यक्ति-व्यक्ति के वीच छोटे-वड़े, नौकर-मालिक, शत्रु-मित्र जैसे भेदो को कोई स्थान ही नही है। यहा तो सव एक ही भूमिका पर खड़े है। इसलिए सवके साथ समान रूप से खमतखामणा करना चाहिए। एक दृष्टि से खमत-खामणा तो महास्नान है। जो यह महास्नान कर लेता है, वह तरोताजा हो जाता है, निर्मल वन जाता है। वार्षिक खमतखामणा का यह पर्व हमे तरोताजा और निर्मल वनाने के लिए आया है। हम सव इसमे स्नानकर तरोताजा और निर्मल वन जाए।

सवसे पहले मैं ही खमतखामणा करता हूं। संघपति होने के नाते साधु-साध्वियो पर अनुशासन करना पडता है। त्रुटि होने पर प्रायश्चित्त भी देना पडता है। यद्यपि प्रायश्चित्त देते समय मेरा हृदय पिघल जाता है। मेरे मन में विचार आता है, इसने गलती क्यो की। यदि यह गलती नही करता तो मुझे प्रायश्चित्त क्यों देना पडता। फिर भी मैं छद्मस्थ हूं। किसी के भी प्रति मन मे तनिक भी अन्यथा भावना आई हो, किसी को भी कोई कडा शब्द कह दिया हो, तो सवसे पुन:-पुन: खमतखामणा करता हू। इसी तरह श्रावक-श्राविकाओ से भी मेरा वहुत काम पड़ता है। वहुत संभव है, कभी उनकी वदना न स्वीकार की हो, उनकी कोमल भावनाओ का पूरा मूल्यांकन न किया हो, उन्हे गलती पर कडा उपालंभ दे दिया हो, तो आज अत्यन्त सरलभाव से सवसे खमतखामणा करता हूं। दूसरे-दूसरे जैनसम्प्रदायो के साधु-साध्वियो तथा श्रावक-श्राविकाओ से भी समय-समय पर चर्चा-वार्ता का काम पडता रहा है। चर्चा-वार्ता करते समय कही कोई कटुता आ गई हो तो मैं आज अत्यन्त ऋजुतापूर्वक खमतखामणा करता हूं। हमारे संघ से वहिष्कृत या वहिर्भूत व्यक्तियो से हालाकि हमारा कोई सम्वन्ध नही है, तथापि उनके व्यवहार को लेकर छद्मस्थता के कारण कोई असद् विचार आया हो तो आज उनसे भी खमतखामणा कर अपने को हलका वना रहा हूं।

खमतखामणा का क्रम मैने शुरू कर दिया है। अव आप लोग भी इसी प्रकार से खमतखामणा कर मैत्री की धारा वहाए। आज के पर्व को मनाने की यही सार्थकता है।

वम्वई
३ सितम्वर १९५४

## ४५. मानव-धर्म

भगवद् गीता भारतीय संस्कृति का एक महत्त्वपूर्ण ग्रथ है। मानव-धर्म का इस ग्रंथ में बहुत सुन्दर विवेचन हुआ है। एक जैन आचार्य भगवद् गीता मे वर्णित मानव-धर्म का विवेचन करे, यह संभवत. कुछ लोगो को विचित्र-सा लगे, आश्चर्यजनक लगे। पर इसमे आश्चर्य जैसी कोई बात नही है। जीवन-शुद्धि के तत्त्व कही भी मिले, किसी भी पुस्तक मे मिले, उन पर समदृष्टि से विचार करना अपने धर्म-सिद्धातो के मडन करने का सही मार्ग है। यदि हमारी दृष्टि अभेद खोजनेवाली है तो हम भगवान महावीर के विचारो और भगवद् गीता में बहुत-सारी ऐसी बाते खोज सकते हैं, जिनमे परस्पर समानता है। मैं उदाहरण दू। भगवद् गीता मे कहा गया है—ज्ञान, विवेक, श्रद्धा, एकग्रता और भावना की आत्मोन्मुखता जीवन को उन्नति के मार्ग पर ले जानेवाली है। भगवान महावीर भी इन्हे आत्म-विकास के अमोघ साधन मानते हुए जीवन मे उतारने का उपदेश देते हैं। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को जहा भगवान महावीर मानव-जीवन के चरम विकास का माध्यम बताते हुए इनकी साधना मे जीवन की सफलता देखते है, वही गीता इन्हे जीवनमुक्त और निर्बन्ध बनने का साधन बतलाती हुई मानव-मानव को इस ओर आने का आह्वान करती है।

गहराई से देखा जाए तो यह भगवद् गीता और महावीर वाणी की समानता की ही बात नही है, अपितु सभी धर्मो ने इन तत्त्वों को भिन्न-भिन्न रूपो में उपादेय माना है। मूलभूत बात है—दृष्टि की। यदि व्यक्ति की दृष्टि समानना खोजने की है, तो वह सभी धर्मों से इस तरह की बाते खोज लेगा। इसके विपरीत यदि दृष्टि भेद खोजने की है, तो ढेर-सारी भेदपरक बाते भी खोज सकता है। इसलिए सबसे पहली अपेक्षा यह है कि व्यक्ति की दृष्टि अभेदपरक बने। दूसरी अपेक्षा है कि वह मानव-धर्म के इन तत्त्वो को-अधिक-से-अधिक जीवन मे उतारे। इनका जितना अधिक विकास होगा, व्यक्ति का जीवन उतना ही अधिक उन्नत, सुखी और पूर्ण बनेगा।

बम्बई
६ सितम्बर १९५४

# ४६. हम जागरूक रहें*

## आत्म-निरीक्षण का दिन

आज मेरे लिए आत्म-निरीक्षण का दिन है। इस वर्ष क्या किया, इसका लेखा-जोखा और आगामी वर्ष में क्या करना है, इसका लक्ष्य निर्धारित करने का यह दिन है। सव लोग भिक्षु-शासन में आनन्द-मंगल मना रहे हैं, पर मेरे कधो पर एक भारी वजन है। हालाकि यह वजन मैंने स्वय नही लिया है, आया है। पर मुझे इस वात की सात्त्विक प्रसन्नता है कि मैंने अपना दायित्व अच्छी तरह से निभाने का प्रयास किया है। अपने इस प्रयास में मैं कितना सफल रहा हूं, इसका मूल्यांकन करना आप लोगो का काम है।

## सच्ची प्रगति

जोधपुर-प्रवास के वाद हमारी लम्बी यात्रा सम्पन्न हुई। अनेक नगरो, कस्वो और गांवों में हमारा पडाव पड़ा। अनेक तरह के वातावरण, अनेक तरह की स्थितियां और विभिन्न प्रकार की विचारधाराएं हमारे सामने आईं। इस अवधि मे जिन-जिन कार्यों को उठाया गया, उनके लिए उत्साहवर्धक वातावरण वना है, सफलता भी मिली है। मुझे इस वात का संतोष है कि हमारे कार्यक्रम दिन-प्रतिदिन प्रगति पर हैं। आज प्रगति के नाम पर लोग गुमराह हो जाते हैं। वस्तुतः आत्म-शोधन, आत्म-निर्माण और जन-जागृति के कार्य में प्रगति ही सही प्रगति है। वह प्रगति हमे नही चाहिए, जो व्यक्ति को अकर्मण्य वनाए, साधना के प्रतिकूल ले जाए। वास्तव मे तो साधनाविमुख होकर की जानेवाली प्रगति प्रगति है ही नहीं, ह्रास है। मैं समझता हूं, साधु-साध्वियां इस तथ्य से भलीभाति परिचित हैं।

## साधु-साध्वियां उभयानुकंपी होते हैं

संघ के साधु-साध्वियो को मैं अपने हाथ, पैर और अवयव-प्रत्यवयव मानता हूं। उनसे मैं आज के अवसर पर एक-दो वातें विशेष रूप से कहना चाहूंगा। वे जिस कडी मंजिल—साध्वाचार की साधना मे चल रहे हैं, उसमे क्षण-क्षण जागरूक रहें। संयम-साधना के प्रति उन्हे एकनिष्ठ होकर आगे

* १९वे आचार्य पदारोहण के अवसर पर प्रदत्त वक्तव्य।

बढ़ना है। वे इस बात को बहुत स्पष्ट रूप से समझ लें कि संयम को सुरक्षित रखते हुए आगे बढ़ना ही वास्तव में आगे बढ़ाना है। संयम को गौण कर एक कदम भी आगे बढना वांछनीय नही है। दूसरी बात—जो सत्य-तत्त्व हमें मिला है, उसका जन-जन मे प्रचार-प्रसार करें, बल्कि उसके लिए अपने जीवन को झोक दे। यह भी हमारी साधना का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है। वे जन-जागरण को स्व-जागरण के पक्ष से कम न मानें। भगवान महावीर ने साधु को उभयानुकपी कहा है। इससे जन-जागरण का मूल्य स्वतः सिद्ध है। यहां जो साधु-साध्विया हैं, वे तो मेरी बात सुन ही रहे हैं, बल्कि जो यहां अनुपस्थित हैं, उन तक भी मेरी भावना अवश्य पहुंच रही होगी। मेरे से अभिन्न जो हैं। मैं उनमें व्याप्त हूं और वे मुझमे व्याप्त हैं। क्षेत्रीय दृष्टि से वे दूर भले हो, पर वास्तव में मेरे से दूर नही हैं, बिलकुल नजदीक हैं।

जो साधु-साध्वियां यहां गुरुकुलवास में हैं उन पर एक प्रकार की विशेष जिम्मेवारी है। वे यहां रहकर जो शिक्षण-प्रशिक्षण और संस्कार प्राप्त करते हैं, वे उन तक ही सीमित नही रहते। उनका असर पूरे साधु-साध्वी समाज पर होता है। इसलिए वे अपनी इस जिम्मेवारी को समझें। यदि समझेंगे ही नही तो वे उसे अच्छे ढंग मे कैसे निभा पाएंगे।

## मैं सदैव सावधान रहता हूं

मैं अपनी बात बताऊं। मैं यह जानता हूं कि समूचा तेरापंथ संघ मेरे कदमों के पीछे चलता है। यह बहुत बड़ी जिम्मेवारी है। अतः मुझसे कहीं भूल न हो जाए, इसके लिए मैं सदैव सावधान रहता हूं, क्योंकि मेरे एक के गलत चले जाने से सारे संघ के गलत राह पर चले जाने की संभावना है। हालांकि मैं भूल न होने का कोई दावा नहीं कर सकता, क्योकि मैं कोई सिद्ध नही हूं, साधक हूं, अपूर्ण हूं। साधक की भूमिका मे किसी से भी कोई भूल होना अस्वाभाविक बात नही है। पर इसके बावजूद इतना सुनिश्चित है कि गलती को कभी कोई प्रश्रय नही मिल सकता। साढ़े तीन करोड़ रोओं मे से एक रोये भी नही। गलती के लिए तो आत्मालोचन ही है, प्रश्रय नही।

## अनैतिकता के दुर्भिक्ष को मिटाएं

श्रावक लोगो से भी इस अवसर पर एक बात कहना चाहता हूं। आज के अनैतिकता के वातावरण में वे स्वयं नीतिनिष्ठ रहकर जन-जन मे नैतिकता के प्रचार-प्रसार में अपनी हर सभव शक्ति लगा दें। दूसरे-दूसरे लोग भले साम्प्रदायिकता से चिपके बैठे हैं, पर उन्हें इससे दूर रहकर अणुव्रत आंदोलन के कार्यक्रम को पूरी गति देनी है। अणुव्रत आंदोलन सर्वथा असाम्प्रदायिक कार्यक्रम है। इस कार्यक्रम को व्यापक बनाकर अनैतिकता के दुर्भिक्ष को मिटाया जा सकता है।

मुम्बई, ६ सितम्बर १९५४

# ४७. शुभ शुरुआत स्वयं से हो

आज चारो ओर सुधार की चर्चा है। सुधार चाहे किसी भी स्तर पर क्यों न हो, वह सदा अच्छा ही है। उसे बुरा नही माना जा सकता। पर प्रश्न यह है कि सुधार का प्रारम्भ कहां से हो ? लोग पर-सुधार की वहुत चेष्टा करते हैं। लेकिन पर-सुधार से पूर्व स्वयं का सुधार आवश्यक ही नही, अनिवार्य भी है। स्वयं से ही शुभ शुरुआत होनी चाहिए। अन्यथा सुधार के गीत गाने से क्या होगा। स्वयं का सुधार करके ही व्यक्ति पर-सुधार की वात करने का अधिकारी वनता है।

कुछ व्यापारी मेरे पास आए थे। यो तो आने का क्रम प्रायः वना ही रहता है, इसलिए उसका कोई विशेष महत्त्व नहीं है। पर वे एक विशेष उद्देश्य को लेकर आए थे। उन्होने कहा कि हम अणुव्रत आदोलन के माध्यम से व्यापारी-जीवन मे नैतिकता लाने के लिए कार्य करना चाहते हैं। मुझे उनकी भावना सुनकर प्रसन्नता हुई। यह जानकर तो और भी अधिक प्रसन्नता हुई कि यह प्रेरणा उनके मन में स्वयं पैदा हुई है। किसी दूसरे व्यक्ति ने उन्हें इसके लिए प्रेरित नही किया है। मुम्वई के व्यापारी-समाज के लिए यह एक शुभ सूचना है। मैं चाहता हू, वे अपनी पूरी शक्ति के साथ इस कार्य मे जुट जाएं। यह कार्य जितना अधिक आगे वढ़ता है, उतना ही समाज का हित है। पर जैसा कि मैंने कहा, सुधार का क्रम स्वयं से शुरू होना चाहिए। व्यापारी भाइयो को सवसे पहले स्वयं को नैतिकता के सांचे मे ढलना होगा। स्वयं नैतिक वनकर ही वे अपने उपरोक्त उद्देश्य मे सफल हो पाएगे। आशा है, व्यापारी भाई इस पर गभीरता से चिंतन करेंगे।

मुम्वई की तरह दूसरे-दूसरे क्षेत्रों मे भी नैतिक जागरण का यह कार्य आगे वढ़ाना है। जिन-जिन क्षेत्रो मे हमारे साधु-साध्विया हैं, मात्र वहां ही नही, वल्कि उन क्षेत्रों मे भी, जहां साधु-साध्वियां नही हैं। हमारे कार्यकर्ताओ को उन क्षेत्रो में पूरी शक्ति, निष्ठा और आत्मविश्वास के साथ इस कार्य मे अपने-आपको नियोजित करना है। मुझे आशा है, सवके सामूहिक प्रयत्न से हम नव-निर्माण की दिशा मे आगे वढ़ पाएंगे।

मुम्वई, ६ सितम्वर १९५४

# ४८. आचार्य भिक्षु की जीवन-गाथा*

सृष्टि का यह अनादिकालीन क्रम है कि जो भी प्राणी यहां जन्म लेता है, वह एक-न-एक दिन अवश्यमेव मौत को प्राप्त होता है। कोई भी व्यक्ति यहां स्थायी नहीं है। इस स्थिति में किसी भी व्यक्ति को जाने से रोका नहीं जा सकता। पर प्रसन्नता की वात तव होती है, जव कोई व्यक्ति अपने लक्ष्य को परिपूर्ण करके जाता है। महामना आचार्य भिक्षु एक सामान्य प्राणी की तरह ही इस धरा पर अवतरित हुए। पर जाने से पूर्व वे अपने लक्ष्य को प्राप्त हुए, लाखों-लाखो व्यक्तियो का उन्होंने पथ-दर्शन किया, इसलिए हमें अत्यंत प्रसन्नता है।

## अनशन स्वीकार कर लिया

आचार्य भिक्षु भाद्रव शुक्ला त्रयोदशी के दिन इस धराधाम से अपनी स्थूल काया से मुक्त होकर स्वर्गस्थ हुए। वीरप्रसविनी भूमि राजस्थान के सिरियारी नामक ग्राम मे वे उस समय विराजित थे। शाम का समय था। वे एक दुकान में ठहरे हुए थे। आज के युग में तो उसे गुफा की संज्ञा से सम्वोधित किया जा सकता है। हवा को भी मकान से आर-पार जाने का कही कोई अवकाश नही था। और यह मात्र अन्तिम समय की ही वात नही है, उन्होंने तो ऐसे मकानों मे अपना जीवन ही विताया था।

द्वादशी के दिन मध्याह्न के पश्चात् उन्होंने यावज्जीवन के लिए अनशन स्वीकार कर लिया। अपने समस्त साधु-साध्वियो तथा श्रावक-श्राविकाओ से खमत-खामणा कर लिया। जीवनभर वे संघर्षों से होकर गुजरे थे। अनेक वार शास्त्रार्थ हुआ था। हालांकि सभी प्रकार की अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियों मे सम रहना साधना की कसौटी है। आचार्य भिक्षु ने इस कसौटी पर स्वयं को कसा था, विरोध को भी विनोद मे टाल देने की कला मे वे वहुत दक्ष थे, तथापि छद्मस्थता के कारण कही कोई अन्यथा भाव आ गया हो, तो सवसे त्रिकरण-त्रियोग से खमत-खामणा कर सर्वथा निर्भार हो गए। कितना सुन्दर क्रम है यह! अद्‌भुत है इसकी कल्पना! जैन साधु यहा से जाते समय विलकुल हलका-फुलका होकर जाना

* १५२ वे आचार्य भिक्षु चरमोत्सव के अवसर पर प्रदत्त प्रवचन।

चाहता है। किसी भी प्रकार का बोझ लेकर जाना नही चाहता। इसलिए समस्त प्राणी जगत् से अत्यत ऋजुभाव से खमत-खामणा करने की विधि है।

## त्याग की सुरसरिता बह चली

आचार्य भिक्षु के अनशन स्वीकार करने का सवाद पवन-वेग से चारो ओर फैल गया। अन्तिम दर्शन के लिए लोग उमड़ पड़े। सिरियारी की गालिया लोगो की भीड़ से संकुल हो गई। लोग अपने-अपने ढंग से आचार्य भिक्षु की यशोगाथा का गान करने लगे। अनशन के उपलक्ष मे अपने-अपने सामर्थ्य के अनुसार तरह-तरह के त्याग-प्रत्याख्यान करने लगे। त्याग-प्रत्याख्यान की मानो एक गंगा ही बह चली। लगभग सात प्रहर के अनशन के साथ आचार्य भिक्षु ने अपनी जीवन-यात्रा सम्पन्न की। अन्तिम दिन की एक दो घटनाओं से ऐसा अनुमान होता है कि उन्हे अनशन की समाप्ति से कुछ घंटो पूर्व अवधिज्ञान हुआ था। शास्त्रीय आधार भी है कि वैमानिक देव-लोक मे जानेवाले व्यक्ति को मृत्यु से पूर्व अवधिज्ञान होना संभव है।

## दीक्षा और अभिनिष्क्रमण

आचार्य भिक्षु कटालिया ग्राम के एक वैश्य परिवार मे जनमे। पचीस वर्ष की तरुण वय मे उन्होने स्थानकवासी आचार्यश्री रुघनाथजी के पास दीक्षा स्वीकार की। लगभग आठ वर्षो तक वे उनके पास रहे। इस अवधि मे उन्हे अनेक प्रकार के मधुर व कटु अनुभव हुए। आचार और विचार सम्बन्धी अनेक प्रकार के प्रश्न उभरे। उन्होने गुरु से उनका समाधान पाने की चेष्टा की। पर उन्हे कोई समुचित समाधान प्राप्त नही हुआ। अत उन्होने स्थानकवासी संघ से अपना सम्बन्ध विच्छिन्न कर लिया।

संघ से अलग होते ही उनको नाना प्रकार के कष्टो का सामना करना पड़ा। स्थान के अभाव मे उन्होने अपना प्रथम प्रवास श्मशान मे किया। आहार का अभाव, कपडे का अभाव तो था ही। पर उन्होने इनकी कोई परवाह नही की। इनको अभाव माना ही नही। तपस्वी जो ठहरे।

## तेरापंथ का उदय

स्थानकवासी संघ से अलग होने का उनका उद्देश्य कोई नया सम्प्रदाय खड़ा करना नही था। और यह केवल आचार्य भिक्षु की ही नही, अपितु सभी महापुरुषो की बात है। कोई भी महापुरुष सम्प्रदाय चलाने की भावना से अपने विचारो का प्रवर्तन नही करते। वे तो जनता के उत्थान के लिए अपने विचार देते हैं। यह दूसरी बात है कि जनता को उनके विचार प्रभावित करते हैं और एक सम्प्रदाय के रूप मे वह उनके पीछे हो जाती है। आचार्य भिक्षु ने भी जनता को जगाने के लिए अपने विचार दिए। हालांकि मूल विचार तो भगवान महावीर के ही थे, उनकी तो अपनी पारदर्शी दृष्टि

थी। पर धीरे-धीरे लोग उन विचारों के साथ बंधने लगे और 'तेरापंथ' के रूप में एक सम्प्रदाय सहज रूप से अस्तित्व में आ गया।

## संविधान-कवचित संगठन

पर संघ के अस्तित्व में आने के बावजूद भी उसके भविष्य के प्रति पूर्ण आश्वस्ति की स्थिति नही थी। विरोध की आंधी इतनी प्रचंड थी कि वह कब उसके अस्तित्व को समाप्त कर दे, कहा नही जा सकता था। पर आचार्य भिक्षु एक बार की अल्पकालीन निराशा के अतिरिक्त सदैव आशा-वादी दृष्टिकोण से अपना कार्य करते रहे। पन्द्रह वर्षों की संघर्षमय स्थिति से गुजरने के बाद जब उन्हे ऐसा आभास होने लगा कि संघ का भविष्य उज्ज्वल है, तो उन्होंने अनेक प्रकार की मर्यादाओ का निर्माण कर तेरापंथ को संविधान-कवचित संगठन बना दिया। उन मर्यादाओ के द्वारा उन्होने संघ मे एक आचार्य के सक्षम अनुशासन की परम्परा का सूत्रपात किया। साधु-साध्वियों द्वारा अपने-अपने शिष्य-शिष्या बनाने की परम्परा को समाप्त कर दिया। उन्होने अनुभव किया कि इस परम्परा के कारण दीक्षा मे गुणात्मकता की ओर ध्यान कम दिया जाता है। फलतः धर्मसंघों मे शिथिलाचार बढ़ता जा रहा है। चूंकि वे अपने सघ को एक आचारसम्पन्न संघ बनाना चाहते थे, इसलिए उन्होने शिथिलाचार आने के मूल रास्ते को ही बद कर दिया।

## आचार-विचार-क्रांति

जैन-संघो में शिथिलाचार के विरुद्ध उन्होंने एक जबरदस्त क्राति की। हालांकि व्यक्तिगत आक्षेप या प्रहार से वे सदैव सलक्ष्य परे रहे। उन्होने कहा—"साधु बनने की अनिवार्यता नही हो सकती, पर जो साधु बनता है, उसके लिए महावीर द्वारा निर्दिष्ट आचार-संहिता का पालन करना अनिवार्य है। उसमे कोई भी अपवाद नही हो सकता। विषम समय है, इसमे पूरा साधुपन नही पल सकता—यह कहनेवाले काल की ओट में अपने आचार की शिथिलता का पोषण करते हैं।"

आचार-शैथिल्य की तरह उन्होंने विचार-शैथिल्य पर भी कडा प्रहार किया। उस समय शिथिलाचार के पोषकों ने अपनी आचार पालने की दुर्बलता के कारण विचारो को ही नीचे खिसका लिया था। उन्होंने महावीर की दार्शनिक मान्यताओ को मनमाने ढंग से व्याख्यायित करना प्रारम्भ कर दिया था। आचार्य भिक्षु ने इस प्रवृत्ति का डटकर विरोध किया और महावीर की दार्शनिक मान्यताओं को पुनः अपने मौलिक स्वरूप में प्रस्तुत किया।

इसका परिणाम यह हुआ कि लोगो ने उन्हे धर्म का विद्रोही करार दे दिया, दया-दान का उत्थापक बतलाया। पर आचार्य भिक्षु तो एक महान्

क्रांतिकारी थे। सत्य के लिए विरोध को सह चले। सत्य की सुरक्षा के लिए उन्हें मर मिटना मंजूर था, पर डिगना नहीं। उनका संकल्प था—आत्मोदय के जिस महान् उद्देश्य से मैं घर-परिवार को छोड़कर संयम-पथ पर आया हूं, उस पर यावज्जीवन तक चलता रहूंगा। इस संकल्प के साथ वे सतत अपने साधना-पथ पर आगे-से-आगे गतिशील रहे। भगवान महावीर की वाणी का अखूट संबल उनके साथ था। इसलिए जन-समर्थन के अभाव में भी उन्होंने कभी अकेलेपन का अनुभव नही किया। चाहे कितना भी बीहड़ जंगल क्यों न हो, मृगेन्द्र अकेला निर्भीकतापूर्वक विहरण करता रहता है। फिर आप तो मृगेन्द्र से भी बढ़कर थे। सिंहपुरुष थे। आपको किस बात का भय था। आज उनका चरमोत्सव है। उनका अभिनन्दन करना है। पर किस चीज से अभिनन्दन करू ? पास मे कुछ भी तो नही है। उन्होने मुझे अकिंचन जो बना दिया। पर इस अकिंचनता मे भी मेरे तन-मन मेरे पास सुरक्षित हैं। उन्हे ही मैं उनको अर्पण कर दू अभिनन्दन के रूप मे—

**वंदन हो, अभिनन्दन हो, ये तन-मन चरण चढ़ाएं हम।**
**दीपां-नंदन! आज तुम्हारी स्मृति में श्रुति सरसाएं हम॥**
**वंदन हो, अभिनन्दन हो, ये तन-मन चरण चढ़ाएं हम॥**

- **'जाए सद्धाए निक्खंतो' इसी पद्य को लक्ष्य बना,**
  **वज्र-हृदय बन चले अकेले, इसीलिए तुम महामना।**
  **कभी न की परवाह राह पर, ये प्रतिपल पलक बिछाएं हम॥**
  **वंदन हो, अभिनन्दन हो, ये तन-मन चरण चढाएं हम॥**
- **'सच्चं भयवं' यह वाणी थी साध्य तुम्हारे जीवन का,**
  **इसीलिए तो केन्द्र बने तुम जन-जन के आलोचन का।**
  **'तुलसी' चरम-महोत्सव मुंबइ सिक्कानगर मनाएं हम॥**
  **वंदन हो, अभिनन्दन हो, ये तन-मन चरण चढाएं हम॥**

इन पद्यों मे मेरा हृदय बोल रहा है। नही-नही, आचार्य भिक्षु का हृदय बोल रहा है, उनका जीवन बोल रहा है। आप लोगो को चाहिए कि उनके जीवन को सूक्ष्म दृष्टि से पढ़ें।

आचार्य भिक्षु का जीवन घटनाप्रधान है। उन घटनाओ मे उनका व्यक्तित्व प्रतिबिम्बित होता है। कुछ घटना-प्रसंग मैं प्रस्तुत कर रहा हू—

## आचार-शिथिलता स्वीकार नहीं

संघ में फत्तूजी आदि पांच साध्वियां थी। एक बार की घटना है। आचार्य भिक्षु सभी साध्वियो को कपड़ा दे रहे थे। उनसे भी कहा कि जितना जरूरत हो, उतना कपडा ले लो। उन्होने जितना कपड़ा मांगा, उतना कपड़ा

स्वामीजी ने उनको दे दिया। कपड़ा देने के पश्चात आचार्य भिक्षु को संदेह हुआ कि उन्होने कपड़ा मर्यादा से अधिक लिया है। मुनि अखेरामजी को साध्वियों के स्थान पर भेज कर कपड़ा वापस मंगवाया और उसे मापा। कपड़ा मर्यादा से अधिक निकला। स्वामीजी ने उन्हे उपालम्भ तो दिया ही, अयोग्य जान उनका संघ से सम्बन्ध-विच्छेद भी कर दिया।

आचार्य भिक्षु का स्पष्ट चिन्तन था कि परिग्रह में फंसे साधु-साध्विया संयम का पालन नही कर सकते। इसीलिए उन्होने इतना कड़ा कदम उठाया। वे आचार की छोटी-सी गलती को भी वहुत वडी गलती समझते थे। अपने संघ मे वे आचारसम्वन्धी किसी भी प्रकार की गलती देखना नही चाहते थे। पांच-पांच साध्वियों का सघ से एक साथ पृथक्करण इसका सजीव उदाहरण है।

## सवारी और साधु

किसी ने आचार्य भिक्षु से पूछा—"जगल मे कोई साधु चलता-चलता थक गया। संयोग से कोई वैलगाडी उधर से आ रही थी। उस वैलगाड़ी में साधु को विठाकर गांव मे लाया गया। इसमें क्या हुआ?"

आचार्य भिक्षु ने प्रतिप्रश्न किया—"वैलगाड़ी नही, सवारी के गधे आ रहे थे, तुम ऐसा मानो। उन गधों मे से किसी एक गधे पर विठाकर साधु को गांव लाया गया। इसमे क्या हुआ?"

इस पर वह भाई जरा झुंझलाकर वोला—"गधे की वात क्यों कर रहे है?"

आचार्य भिक्षु ने कहा—"यदि तुम ऐसा मानते हो कि गाडी मे विठाकर साधु को गांव में लाने से धर्म होता है, तो गधे पर विठाकर गांव लाने में भी धर्म क्यों नहीं होगा? पर शुद्ध साध्वाचार की दृष्टि तो यह है कि सवारी भले वैलगाड़ी की हो, भले गधे की, साधु के लिए निषिद्ध है।"

वस्तुत. आचार्य भिक्षु की धर्म और अधर्म की दृष्टि इतनी स्पष्ट थी कि तुरन्त दूध का दूध और पानी का पानी कर देते थे।

## अनुशासन अपनों पर

आचार्य भिक्षु के एक साधु थे मुनि खेतसीजी। उल्लेखनीय विनम्रता, आन्तरिक समर्पणवृत्ति, सहज समता और प्रेरक निस्पृहता के कारण उनको उपनाम मिला था 'सतयुगी'। उनके जीवन से संबंधित एक घटना-प्रसंग है। एक वार आचार्य भिक्षु ने एक साधु को साधुत्व की दृष्टि से अयोग्य जान संघ से अलग कर दिया। इस पर सतयुगीजी ने आचार्य भिक्षु से निवेदन किया—"महाराज! मै उसे समझाकर पुन: संघ मे लाने के लिए जा रहा हूं।" आचार्य भिक्षु ने कहा—"नही सतयुगी! वह सघ मे रहने लायक

नहीं है। इसलिए उसके पास जाने की जरूरत नही हैं।"

पर न जाने क्यो, मुनि खेतसीजी का उसको समझाकर पुन· लाने का आग्रह वना रहा। दो-तीन वार मना करने के वावजूद भी जव उन्होंने उस साधु को समझाकर लाने का आग्रह नही छोड़ा, तो आचार्य भिक्षु ने कहा—"खेतसी ! ध्यान रखना, यदि एक कदम भी उस दिशा मे वढ़ा दिया तो तुम्हारा भी गण से सम्वन्ध-विच्छेद हो जाएगा।"

अव मुनि खेतसीजी को अपनी अवस्था का भान हुआ और उन्होंने अपना विचार एकदम वदला।

यह घटना इस वात का निदर्शन है कि आचार्य भिक्षु अनुशासन के कितने वड़े हामी थे। खेतसीजी हो या भारमलजी, अनुशासन मे रहे तो रहें, अन्यथा सवके लिए एक ही रास्ता था। वहां प्रिय और प्रमुख का कोई व्यामोह नही था।

## गुणात्मकता की दृष्टि

आचार्य भिक्षु जिस समय स्थानकवासी सघ से अलग हुए, उस समय की एक घटना है। आचार्य भिक्षु के उत्तराधिकारी भारमलजी स्वामी के पिताजी किशनोजी भी उनके साथ थे। उनकी प्रकृति वहुत चड थी। इस कारण आचार्य भिक्षु उन्हे अपने सघ मे रखना नही चाहते थे। पर नकारना भी तो सीधा काम नही था। कही इस कारण भारमलजी भी चले गए तो ? यह प्रश्न-चिह्न था। पर अन्ततः आचार्य भिक्षु ने निर्णय कर लिया—भारमलजी रहे तो रहें और जाएं तो जाएं, पर किशनोजी को साथ में नही रखना है। उनकी उग्र प्रकृति क्रांति की यात्रा में कही भी कठिनाई खड़ी कर सकती है। वस, इस निर्णय के साथ भारमलजी से ही सीधा प्रश्न कर डाला—"भारमल ! प्रकृति की उग्रता के कारण तुम्हारे पिताजी को तो इस क्रांति-यात्रा मे साथ से रखने की स्थिति नही है। अव वोलो, तुम्हारा क्या विचार है ?" भारमलजी ने कहा—"गुरुदेव ! मेरे तो आप ही वाप हैं। मैं तो आपके साथ ही रहूंगा।"

तव आचार्य भिक्षु ने किशनोजी से कहा—"अति उग्र प्रकृति के कारण अव मैं तुम्हे अपने साथ नही रख सकता।"

किशनोजी के लिए यह अप्रत्याशित वात थी। वे वोले—"अगर आप मुझे नही रखेंगे, तो मै भारमल को भी साथ नही रहने दूंगा। उसे भी अपने साथ ले जाऊंगा।"

आचार्य भिक्षु ने वड़े धैर्य के साथ कहा—"जैसी तुम्हारी इच्छा। पूछ लो अपने लड़के से। मैं जवरदस्ती उसे रखनेवाला नहीं हूं।"

पूछना किसको था, किशनोजी ने भारमलजी का हाथ पकडा और

अपने साथ ले गए। गोचरी लाए और पुत्र को आहार करने के लिए कहा। पर भारमलजी ने उनके हाथ का आहार करने से इन्कार कर दिया। किशनोजी ने सोचा, साझ ढ़लते-ढ़लते भूख के समक्ष आत्मसमर्पण कर देगा। पर उनका सोचा सही नही निकला। साझ ढल गई, पर भारमलजी नहीं ढले, आहार नहीं किया। दूसरा दिन भी इसी राह गुजर गया। इस अवधि मे किशनोजी ने पुत्र को आहार कराने का कई वार प्रयत्न किया। पर भारमलजी अपने निश्चय से तनिक भी नही हिले। तीसरे दिन का सूर्योदय भी हो गया। आज तो किशनोजी ने भारमलजी को झुकाने के लिए अपनी पूरी ही शक्ति लगा दी। पर भारमलजी भी तो भारमलजी ही थे। महान् गुरु के महान् शिष्य थे। उन्होने अपने संकल्प को शिखर चढ़ाते हुए उनके पास आहार करने का यावज्जीवन के लिए परित्याग कर दिया। अव किशनोजी को झुकना पडा। पुत्र भारमलजी को लेकर वे आचार्य भिक्षु के स्थान पर आए और उन्हे सौपते हुए वोले—"यह तो आपके पास रहकर ही खुश है। यहां से जाने के पश्चात् तीन दिनों मे इसने कुछ भी नहीं खाया। अव आप इसे शीघ्र आहार करवाएं।"

आचार्य भिक्षु ने उन्हे अपने पास रख लिया। भारमलजी पुनः आचार्य भिक्षु के चरणो मे पहुचकर अत्यन्त प्रसन्न थे।

यह घटना इस तथ्य को प्रकट करती है कि आचार्य भिक्षु को संख्या का तनिक भी मोह नहीं था, वे गुणात्मकता को महत्त्व देते थे। इसलिए कौन आता है और कौन जाता है, इस वात की ओर उन्होने कोई ध्यान नही दिया। उनका ध्यान एक ही था कि सघ मे योग्य व्यक्ति ही रहे। योग्य व्यक्तियो से ही संघ तेजस्वी बनता है। आचार्य भिक्षु का यह दृष्टिकोण कितना यथार्थपरक है, इसको हम प्रत्यक्ष देख रहे हैं। यह उनके इस दृष्टिकोण का ही तो परिणाम है कि तेरापथ धर्मसंघ सख्या की अपेक्षा से बहुत छोटा होता हुआ भी पूरे अध्यात्म जगत् मे अपनी तेजस्विता की विशिष्ट पहचान बनाने में सफल हुआ है।

आचार्य भिक्षु के जीवन के कुछ घटना-प्रसगो को मैने आपको सुनाया। मन करता है कि मै सुनाता ही चला जाऊं। पर यह संभव नही है, विराम तो देना ही होगा। फिर भी इतना अवश्य कहना चाहता हूं कि आचार्य भिक्षु के घटना-प्रसंग इतने महत्त्वपूर्ण और मार्मिक हैं कि उन्हें जानना सभी के लिए बहुत आवश्यक है। मै अपने साधु-साध्वियो को इस वात की विशेष रूप से प्रेरणा करता हू कि वे आचार्य भिक्षु के मूल ग्रन्थो तथा उनसे सम्बन्धित साहित्य का गंभीरता से अनुशीलन करे, जिससे कि वे उनकी आत्मा से साक्षात्कार कर सकें। मेरी दृष्टि में उन महापुरुष के प्रति यह सच्चा श्रद्धा-समर्पण होगा।

मुम्बई, १० सितम्बर १९५४

## ४९. ज्ञान और क्रिया

### सब कुछ ज्ञेय है

संसार मे दो तरह के तत्त्व हैं—सत् और असत्। सत् तत्त्व उपादेय होते हैं और असत् तत्त्व हेय। पर ज्ञेय सब ही तत्त्व हैं। यानी त्याज्य तत्त्वो को जानना उतना ही जरूरी है, जितना उपादेय को। कोई पूछ सकता है कि त्याज्य तत्त्वो को जानने का क्या प्रयोजन? प्रयोजन बहुत स्पष्ट है। यदि व्यक्ति त्याज्य तत्त्वो को जानेगा ही नही, तो वह त्याज्य और उपादेय तत्त्वो के बीच अन्तर कैसे कर पाएगा। और जब अन्तर ही नही कर पाएगा, उन्हे अलग-अलग पहचान ही नही पाएगा, तो कैसे त्याज्य को छोड़ेगा और कैसे उपादेय को ग्रहण कर पाएगा। हमारे यहा हस-मनीपा प्रसिद्ध है। हस की यह प्रकृति होती है कि यदि दूध और पानी मिला हुआ हो तो वह उसमे से दूध-दूध पी लेता है और पानी-पानी छोड़ देता है। यह हस-मनीपा हर व्यक्ति मे जागृत होनी चाहिए। ज्ञान के बिना यह संभव नही है। इस दृष्टि से ज्ञान का हमारे जीवन मे अत्यत महत्त्व है।

### ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः

कुछ लोग मात्र क्रिया को ही महत्त्व देते हैं। ज्ञान का उनकी दृष्टि मे कोई महत्त्व नही है। इसी प्रकार कुछ लोग मात्र ज्ञान को ही महत्त्व देते हैं। क्रिया को महत्त्व नही देते। पर जैन-दर्शन के अनुसार ज्ञान और आचरण दोनो का समान महत्त्व है। ज्ञानरहित क्रिया अंधी है तो क्रियारहित ज्ञान पंगु है। दोनों का सम्यक् योग होने से सम्यक् गति संभव है। इसीलिए कहा गया—**'ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः'**—ज्ञान और क्रिया का सम्यक् योग ही व्यक्ति को मोक्ष तक पहुंचा सकता है। मैं चाहता हूं, प्रत्येक भाई-बहिन सद्ज्ञान और सत्क्रिया का यथार्थ के धरातल पर मूल्यांकन करता हुआ उनकी सम्यक् आराधना करे। यह आराधना ही उसके मनुष्य-जीवन की सार्थकता है।

बम्बई
१२ सितम्बर १९५४

## ५०. भारतीय जीवन का आदर्श-तत्त्व—अहिंसा

### भारतीय जीवन के चार आदर्श

मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और मध्यस्थ वृत्ति—भारतीय जीवन के ये चार आदर्श हैं। पहला तत्त्व है—मैत्री। मैत्री बहुत ही महत्त्वपूर्ण तत्त्व है, बल्कि सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व कहा जा सकता है। प्रश्न है, मैत्री किसके प्रति? मैत्री का क्षेत्र इतना व्यापक है कि वहां 'किसके प्रति' का प्रश्न ही बेमानी है। 'किसके प्रति' का प्रश्न तो वहां उपस्थित हो सकता है, जहां मैत्री के क्षेत्र की कोई सीमा हो। लेकिन जब संपूर्ण मनुष्य जाति ही नहीं, समस्त प्राणी जगत् ही इसका क्षेत्र है, तब 'किसके प्रति' का प्रश्न बेमानी हो जाता है। इस सिद्धांत को अपनाने का फलित यह है कि व्यक्ति के लिए फिर पराया या दुश्मन जैसा कोई प्राणी शेष नहीं रहता। ऐसी स्थिति मे वह किसी भी प्राणी को अपनी ओर से दुःखी नहीं बना सकता।

मैत्री के बाद प्रमोद का क्रम है। दूसरे-दूसरे व्यक्तियों के सद्‌गुणों और उनके विकास को देखकर प्रसन्न होना प्रमोद है। बहुत-से लोग ऐसे देखने मे आते हैं, जो दूसरे व्यक्तियों की बढ़ती देखकर मन-ही-मन ईर्ष्या से भर उठते है। दूसरो के गुण की बात उन्हें बहुत अरुचिकर लगती है। इसका कारण प्रमोद भावना का विकास न होना ही है। जहां व्यक्ति के हृदय में प्रमोद भाव का विकास होता है, वहा ईर्ष्या का दावानल नहीं सुलग सकता। दूसरे का गुण देखकर व्यक्ति का मन कुंद नहीं बन सकता।

संसार के किसी भी प्राणी के प्रति व्यक्ति क्रूर और निर्दय न बने, यह करुणा है। धार्मिक व्यक्ति की यह बहुत सीधी-सी पहचान है। जिसके मन में क्रूरता है, व्यवहार में निर्दयता है, वह भले मन्दिर जाए, माला और जाप करे, पर सच्चा धार्मिक नहीं है, क्योंकि क्रूरता और निर्दयता के साथ धार्मिकता का कोई संबंध नहीं है। दूर का भी सम्बन्ध नहीं है।

जो प्राणी अज्ञान या मोहवश हिंसा, झूठ आदि मे रचे-पचे हैं, भोगों में आकंठ डूबकर अपनी आत्मा का पतन कर रहे हैं, उनके सत्पथ पर आने की कामना करना, कल्याण की भावना करना भी करुणा ही है।

इन्द्र जब भगवान महावीर के चरणो में वंदन करता है, तब यह चिंतन कर कि यह कितना विलासी है, इसका कल्याण कैसे होगा, उनका हृदय

करुणा से भर जाता है। इसी प्रकार जब चण्डकौशिक सर्प उनके पैर पर डक लगाता है, तब भी वे करुणार्द्र हो उठते हैं। उस समय उनके मन मे चिन्तन आता है—यह कितना क्रूर है, इसका कल्याण कैसे होगा!

मध्यस्थ वृत्ति का अर्थ है—उपेक्षा भाव। जो व्यक्ति उचित बात सुनते नही, समझते नही और विपरीत आचरण करते हैं, उनके प्रति लोग आम-तौर पर घृणा का भाव रखते हैं। पर आध्यात्मिक दृष्टि से घृणा करना कदापि उपादेय तत्त्व नही है। उनके प्रति तो उपेक्षा भाव ही अभीष्ट है। इससे उनके मन मे भी आत्मालोचन की प्रेरणा जग सकती है, जो कि सुधार का सबसे सीधा मार्ग है।

## अहिंसा सच्चा विज्ञान है

यदि इन चारों तत्त्वो को हम एक शब्द मे समेटना चाहे तो अहिंसा मे समेट सकते हैं। अहिंसा बहुत ही व्यापक शब्द है। समग्र सत्प्रवृत्तियो का प्रतिनिधि शब्द है। इस तत्त्व का समाज मे जितना अधिक विकास होता है, समाज का उतना ही हित है। आज चारो ओर समस्याओ का जो अंबार लगा है, उसका मूलभूत कारण हिंसा ही है। जब तक अहिंसा की प्रतिष्ठा नही होती, तब तक समस्याओ को समाधान का क्षितिज नही दिखाया जा सकता। लोग अहिंसा की शक्ति और उसके गुण-धर्म से परिचित नही हैं, अन्यथा उसकी इतनी उपेक्षा नही होती। लोगो को यदि यह सचाई समझ मे आ जाए कि अहिंसा मे अप्रतिहत शक्ति है, अहिंसा सच्चा विज्ञान है, जीवन विकास का परम तत्त्व है, तो वे स्वयं उसे अपनाना स्वीकार कर लेगे। इसलिए इस बात की बहुत बडी आवश्यकता है कि अहिंसक शक्तिया अहिंसा के व्यापक प्रचार-प्रसार की दृष्टि से ठोस और सुनियोजित ढंग से कार्य करे। इससे जन-जन मे अहिंसा के प्रति निष्ठा और प्रेम जागृत होगा। हम स्वस्थ समाज-संरचना की परिकल्पना को आकार दे सकेगे।

बम्बई
१९ सितम्बर १९५४

## ५१. अहिंसा और सर्वोदय

अहिंसा और सर्वोदय का परस्पर निकट का सम्बन्ध है, गहरा संबंध है। अहिंसा नहीं तो सर्वोदय नहीं और सर्वोदय नहीं तो अहिंसा नहीं। सर्वोदय का अर्थ है—सब का उदय। यह अहिंसा से ही सम्भव है। इसी प्रकार अहिंसा की प्रतिष्ठा तभी हो सकती है, जब सर्वोदय हो, जन-जन जागृत हो।

### हृदय-परिवर्तन से ही संभव है अहिंसा की प्रतिष्ठा

प्रश्न है, जन-जन मे अहिंसा की प्रतिष्ठा का आधार क्या हो सकता है? जन-जन में अहिंसा को प्रतिष्ठित करने का एकमात्र आधार हृदय-परिवर्तन है। बिना हृदय-परिवर्तन के प्रथम तो उसकी प्रतिष्ठा होगी नहीं और कदाचित् हो भी गई तो टिकेगी नहीं। जरा-सा स्वार्थ, प्रलोभन, भय आदि का झोंका आया कि वह उसमें उड़ जाएगी। किन्तु जहां हृदय-परिवर्तन के आधार पर वह प्रतिष्ठित होगी, वहां कोई भी स्थिति में वह स्थिर रह सकेगी। वस्तुतः हृदय-परिवर्तन वह स्थिति है, जिसमें व्यक्ति का आत्मबल असाधारण रूप से जागृत होता है। और जहां आत्मबल असाधारण रूप से जाग जाता है, वहां व्यक्ति बड़े-से-बड़े प्रलोभन, स्वार्थ और भय की स्थिति में भी अपनी अहिंसा की टेक को नहीं छोड़ता। कितना भी बड़ा स्वार्थ क्यों न सधता हो, वह हिंसा का सहारा नहीं लेता।

### अहिंसा आचरण में आए

आज व्यक्ति की अहिंसा में आस्था है, यह अच्छी बात है। पर यह आस्था मात्र सिद्धांत तक ही सीमित रहती है, जीवन के व्यवहार और आचरण में नहीं उतरती है, तो उसकी तेजस्विता प्रगट नहीं होती। यह कैसी विचित्र बात है कि व्यक्ति अपने स्वार्थ-पोषण के समय तो नितान्त व्यक्तिवादी बन जाता है और अहिंसा के आचरण के समय नितान्त समाज-वादी। वह कहता है— समाज सुधरेगा, तब मैं सुधरूंगा। यह मनोवृत्ति अहिंसा की प्रतिष्ठा में बाधक तत्त्व के रूप मे सामने है। अगर यह बाधक तत्त्व हट जाए यानी वह अहिंसा के आचरण मे व्यक्तिवादी मनोवृत्ति बना

ले तो उसका अपना उत्थान और आत्मोदय तो होगा ही, साथ-ही-साथ सर्वोदय—सबका उदय भी होगा। आशा करता हूं, लोग इस विन्दु पर गम्भीरता से चिन्तन कर शुभ शुरुआत करें।

वम्बई
१९ सितम्बर १९५४

# ५२. अहिंसा : विश्व-शांति का एकमात्र मंत्र

भगवान महावीर ने कहा—

**अप्पा कत्ता विकत्ता य दुहाण य सुहाण य।**
**अप्पा मित्तममित्तं च दुप्पट्ठिय सुपट्ठियो ॥**

इसका अर्थ बहुत सीधा-सा है—अपनी आत्मा ही दुःख और सुख की कर्ता और विकर्ता है। अपनी आत्मा ही अपना मित्र और शत्रु है। दुष्प्रवृत्ति से संलग्न अपनी आत्मा शत्रु है तो सत्प्रवृत्ति मे सलग्न अपनी आत्मा मित्र।

सचमुच यह बहुत गहरी बात है। गहरी भले हो, पर सबके समझने की है। यह इसलिए कि इसे समझे बिना व्यक्ति का चिंतन सम्यक् नही हो सकता, जीवन मे आने वाले सुख-दुःख, अनुकूलता-प्रतिकूलता, उतार-चढ़ाव को देखने का नजरिया सही नही हो सकता। इसके परिणामस्वरूप वह जीवन को शाति से नही जी सकता। भगवान कह रहे हैं—व्यक्ति स्वयं ही अपने सुख और दुःख के लिए जिम्मेवार है। वही उसका कर्ता है, वही उसको नष्ट करने वाला है। ससार के किसी भी प्राणी की यह क्षमता नही कि वह दूसरे व्यक्ति को सुखी या दुःखी बना दे। इसलिए ससार का कोई भी अन्य प्राणी वास्तव में तुम्हारा मित्र नही है, कोई भी शत्रु नहीं है। तुम जब सत्प्रवृत्त होते हो तो तुम ही मित्र की भूमिका निभाते हो और जब दुष्प्रवृत्त होते हो तो शत्रु की। सीधे शब्दो में तुम्हारी सत्प्रवृत्ति ही मित्र है, दुष्प्रवृत्ति ही शत्रु। और यही तुम्हारे सुख-दुःख का कारण भी है। सत्प्रवृत्ति तुम्हें सुख की ओर ले जाती है तो दुष्प्रवृत्ति दुःख की ओर। दूसरे को अपने सुख-दुःख का दाता मानना; मित्र या शत्रु समझना निरा भ्रम है।

## अहिंसा की प्रतिष्ठा हो

सभी प्रकार की दुष्प्रवृत्तियों को हम एक शब्द मे कहना चाहे तो वह शब्द है—हिंसा। इसी प्रकार सभी प्रकार की सत्प्रवृत्तियों को हम अहिंसा के रूप में जान सकते है। मैत्री, भाईचारा, सद्भावना आदि तत्त्व अहिंसा के ही अंग है।

मै देख रहा हू, आज विश्व-शांति के लिए बड़े-बड़े सम्मेलन बुलाये

जा रहे हैं, बड़ी-बड़ी परिषदें हो रही हैं। अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर उनकी समायोजना हो रही है। पर कैसी विडंबना है कि उनके नेता और समायोजक वे लोग है, जिनके पास बड़ी-से-बड़ी संहारक शक्ति है! उनसे जब पूछा जाता है कि आप लोग इतने विध्वंसक शस्त्रों का निर्माण और संग्रह क्यों कर रहे है तो उनका उत्तर होता है—रक्षा के लिए। पर मैं उनसे पूछना चाहता हू, यदि वे शस्त्र उनके शत्रु के पास हो तो? मैं नही समझता, जो स्वय ही अशांति के मार्ग पर हैं, अशांति को बढ़ावा देने वाले हैं, दूसरो को भयभीत करने मे लगे हैं, वे विश्व-शांति की परिकल्पना को कैसे आकार दे सकेंगे। ऐसी स्थिति मे इन सम्मेलनो और परिषदो की कितनी सार्थकता शेष रहती है, आप स्वयं समझ सकते हैं। अपेक्षा है, व्यक्ति-व्यक्ति सबसे पहले इस सिद्धांत को हृदयंगम करे कि दुःख स्वकृत है। दु.ख का कारण हिंसा है। अहिंसा सुख और शाति का एकमात्र मंत्र है। इस मंत्र की आराधना करके ही व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और विश्व के स्तर पर शाति की प्राप्ति की जा सकती है। अणुव्रत आंदोलन जाति, वर्ण, वर्ग आदि सभी प्रकार के भेदो से ऊपर उठकर जन-जन-मन मे अहिंसा को प्रतिष्ठित करने का कार्य कर रहा है। इस कार्यक्रम को विश्वस्तर पर प्रचारित-प्रसारित कर शाति की कल्पना को आकार दिया जा सकता है। विदेशी भाई मेरे सामने बैठे हैं। उनसे विशेष रूप से कहना चाहता हूं कि वे अणुव्रत आदोलन के कार्यक्रम को गहराई से समझें। स्वय अणुव्रती बनें और अपने देश में इस कार्यक्रम को जनव्यापी बनाने का प्रयास करे। विश्व-शाति की दिशा में उनका यह बहुत महत्त्वपूर्ण सहयोग होगा।

बम्बई
२३ सितम्बर १९५४

# ५३. जीवन का सही लक्ष्य

## जीवन-विकास का आधार

जैन-संस्कृति त्याग और सयम की साधना की सस्कृति है। अहिंसा, मैत्री, समता और सद्भाव इस संस्कृति की आत्मा है। जहां कुछ सस्कृतियां वल का मुकाबला वल से तथा हिंसा का मुकाबला हिंसा से करने का निदेश देती है, वहां जैन-संस्कृति अहिंसा, मैत्री और सद्भावना का आदर्श उपस्थित करती है। आत्म-ऋजुता जीवन को परिमार्जित करने वाला सद्गुण है—यह जैन-संस्कृति की आवाज है। विनीत भाव से आत्मा निर्मल वनती है। आत्म-निर्मलता शाश्वत सुख और शाति का हेतु है और शाश्वत सुख और शांति की प्राप्ति जीवन का सही लक्ष्य है—ऐसा जैन-संस्कृति का अभिमत है। जीवन-लक्ष्य को सही रूप मे समझना और उस दिशा मे कदम वढ़ाना विकास का मूल आधार है। दूसरे शब्दों में ज्ञान और क्रिया दोनों हमारे विकास के लिए समान रूप से जरूरी हैं। कोरा ज्ञान पंगु है और कोरी क्रिया अंध। जिस प्रकार पंगु और अंध दोनों ही अकेले-अकेले रहकर ठीक ढंग से गति नही कर पाते, उसी प्रकार अकेला ज्ञान या अकेली क्रिया व्यक्ति को विकास के पथ पर अग्रसर नही कर सकती। दोनो का सम्यक् योग ही विकास को सम्यक् गति प्रदान कर सकता है।

## साधना-पथ

अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—इन पांच तत्त्वो की आराधना करना जीवन-लक्ष्य तक पहुंचने का साधना-पथ है। इस साधना-पथ पर चलकर अनन्त-अनन्त प्राणियो ने अपनी मंजिल को पाया है। इन पांचो तत्त्वो की सम्पूर्ण रूप से आराधना करना महाव्रत है। पर यह सम्पूर्ण आराधना कुछेक लोग ही कर सकते हैं। गृहत्यागी साधु-साध्वियो के लिए ही यह साध्य है। गृहस्थ-जीवन सीमित साधना का जीवन है। गृहस्थ इन पांचो तत्त्वो को यथाशक्य रूप मे ही व्यवहार्य वना पाता है। यह यथाशक्य साधना अणुव्रत है। भले गृहस्थ महाव्रती नही वन सकता, तथापि उसको निराश होने की जरूरत नही है। यह यथाशक्य साधना भी उसको लक्ष्य की दिशा मे आगे वढ़ाने वाली है, उसकी मंजिल की दूरी को

कम करने वाली है। इस साधना से गुजरते हुए जिस दिन उसका सामर्थ्य बढ़ जाए, अहिंसा आदि की सम्पूर्ण आराधना करने की क्षमता पैदा हो जाए, उस दिन उसे साधु बन जाना चाहिए। साधु बनने से वह पूरी गति के साथ अपने लक्ष्य की दिशा मे आगे बढ़ सकेगा।

बम्बई
२७ सितम्बर १९५४

## ५४. जीवन की सार्थकता

### विकास की सही दिशा

आज चारों ओर विकास की चर्चा है। भौतिक विकास अपने उत्कर्ष पर है। शिक्षा का विकास भी हो रहा है। पर भौतिक विकास जैसे-जैसे हुआ है, व्यक्ति का आतरिक विकास अवरुद्ध होता जा रहा है। वह ऊपर से तो वहुत दिखावा करता है, किन्तु अन्दर से क्रमशः खोखला वनता जा रहा है। शिक्षा का विकास बुरा नहीं है, पर केवल पुस्तकीय ज्ञान ही जीवन के लिए पर्याप्त नही है। जव तक जीवन में सात्त्विकता, ईमानदारी, सदाचार, सद्भावना जैसे तत्त्वों का विकास नही होता, तव तक ज्ञान का कोई लाभ नही है, वल्कि भारभूत है। वस्तुतः ज्ञान का फलित आचार है। इसलिए सच्चा ज्ञानी वही है, जो आचारवान् है, चरित्रसम्पन्न है। गहराई से देखा जाए तो चरित्र का विकास ही सवसे श्रेष्ठ विकास है। यदि व्यक्ति का चरित्र अच्छा नही है, आचार भ्रष्ट है, तो सभी प्रकार का विकास करके भी वह अत्यन्त विपन्न है, विकासहीन है। उसके जीवन की कोई सार्थकता नही है।

### धर्म के आदर्श जीवन में उतरें

मैं देखता हूं, धार्मिक लोग धर्म के ऊंचे-ऊचे आदर्शों की बड़ी-बड़ी बातें करते हैं। जैन लोग अपने अहिंसा के सिद्धांत का गौरवमय गीत गाते हैं। वौद्ध लोग करुणा के महान् सिद्धात की चर्चा करते हुए गौरव की अनुभूति करते हैं। इसी प्रकार, ईसाई, मुसलमान तथा अन्यान्य धर्मावलम्वी अपने-अपने धर्मों के सिद्धांतों की गरिमा वखानते हैं। पर मैं नही समझता, यदि धर्म के ऊचे-ऊचे आदर्श और सिद्धात जीवन के व्यवहार और आचरण मे नही उतरते, तो उनके यशोगीत गाने से क्या लाभ। पेट भोजन करने से भरता है, अच्छे-अच्छे खाद्य-पदार्थों के नाम गिनने से नही।

हालांकि इस तथ्य को हम झुठला नही सकते कि संसार से हिंसा, असत्य, क्रोध, काम, मोह आदि का कभी भी सर्वथा लोप नही हो सकता। इसलिए ऐसे युग की कल्पना नही की जा सकती, जिसमे कि सारे-के-सारे लोग अहिंसा, सत्य, क्षमा, शील, संतोष आदि के पथ पर आ जाएं। फिर

भी इतना प्रयत्न तो होना ही चाहिए कि हिंसा, असत्य आदि को युग पर हावी होने का मौका न मिले। यह तभी संभव है, जब अहिंसा, सत्य आदि का व्यापक प्रचार-प्रसार हो। सुनियोजित ढंग से इनके प्रति जन-आस्था का निर्माण किया जाए। ख्याल रहे, अहिंसा, सत्य, शील आदि तत्त्वों का विकास ही चरित्र का विकास है, आचार का विकास है। अणुव्रत आंदोलन इस दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहा है। आप भी इस आंदोलन से जुड़कर इस रचनात्मक कार्य को आगे बढ़ाने मे सहयोगी बन सकते हैं।

बम्बई
२८ सितम्बर १९५४

# ५५. संयम

## शांति की चाह

अणुव्रत आंदोलन जीवन-शुद्धि का उपक्रम है। यह पाच वर्षों से चल रहा है। सैंकड़ो-सैंकड़ों व्यक्ति अणुव्रती वने। अपूर्ण व्रतो को लेने वाले तो कई हजार हैं। लाखों व्यक्ति इस विषय मे रस लेते हैं। भारत से वाहर की प्रजा भी इसे अपनाना चाहती है। इसी वर्ष (४ अप्रैल १९५४) जापान मे हुए सर्व धर्म सम्मेलन के अवसर पर अणुव्रतो का प्रचार हुआ। उसे जापान और दूसरे राष्ट्रो के प्रतिनिधियो ने पसन्द किया। उन्होने कहा कि इसका अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर व्यापक प्रसार होना चाहिये। अभी वम्वई मे वेरन आदि कई विदेशी व्यक्ति आये। उन्होने कहा, हम अणुव्रतो को अपने राष्ट्र मे ले जायेगे और वहां की जनता को वतायेगे। इससे वहुत भला होगा। मुझे लगता है—इसका कारण हिसा से पीड़ित मानव की आंतरिक वेदना है। युद्ध और भौतिक पदार्थों की स्पर्धा ने मनुष्य को इतना अशांत वना दिया है कि अव वह इस ज्वालामुखी से कोसों दूर भाग जाना चाहता है। वेरन ने वताया, अमेरिका के लोग धर्म के प्रति अप्रत्याशित दिलचस्पी ले रहे हैं। चर्चों मे अभूतपूर्व भीड होती है। राष्ट्रपति आइजनहोवर आध घण्टा तक नियमित रूप से एकात मौन प्रार्थना करते है।

मनुष्य इच्छा-पूर्ति के लिए उच्छृङ्खल गति से चला। पर इच्छा पूरी नही हुई। इच्छा-पूर्ति के लिए दूसरे पर निर्भर रहना पड़ता है। वह निर्भरता भी टूट रही है। इसलिये वह अशांत वन रहा है। वह चाहता है कि कही शांति मिले। आप ध्यान से देखिये—शांति वे चाहते हैं, जो सुख-सुविधाओ को पाकर भी अतृप्त हैं। जो गरीव है, सुख-सुविधाओं से वचित है, वे शाति की चर्चा नही कर रहे हैं। उनकी चर्चा अभी सुख-सुविधा के लिये चलती है। निम्न वर्ग असुविधा से पीड़ित है और उच्च वर्ग अशाति से।

## समभाव के दो रूप

आज का सघर्ष अभाव और अतिभाव का सघर्ष है। इन दोनों से वचकर चलने का मार्ग समभाव है। राजनीति की दृष्टि उत्पादन, वितरण

और विनिमय पर से वैयक्तिक प्रभुत्व हटाकर समभाव को फलित करना चाहती है। इसलिए उसके अनुसार समभाव सामूहिक संपत्ति पर आधारित है। संयम की दृष्टि उससे भिन्न है। वह समभाव को आत्मनिष्ठ मानती है। व्यक्ति-व्यक्ति मे समभाव आये—प्राणी मात्र को आत्मतुल्य समझने की भावना प्रवल वने। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का शोषण और उत्पीड़न इसलिए करता है कि उसकी भोगवृत्ति चलती चले। और यह शोषण और उत्पीड़न की दुष्प्रवृत्ति तव तक चलती रहती है, जव तक उसके मन मे आत्मिक समता की भावना नही जाग जाती। व्रत के दर्शन मे रोग का मूल भोग-वृत्ति है, पदार्थ और सग्रह नही। जव तक भोग-वृत्ति न्यून नही होती, तव तक न शोषण घटता है और न सग्रह। शोपण और संग्रह भोग-लालसा की पूर्ति के लिए है। वह मिटती है, तव उनके रहने का कोई कारण नही रहता। व्रती वनने के वाद, इच्छाये सीमित नही होती, वल्कि इच्छायें सीमित हो जाती है. तभी व्यक्ति व्रती वनता है। व्रत की स्थिति वलवान् होती है, वहां न अतिभाव सताता है और न अभाव ही। इस प्रकार आत्मनिष्ठ समभाव से पदार्थाश्रित समभाव स्वय फलित हो जाता है। अणुव्रत आदोलन का ध्येय है—आत्मिक समभाव की स्थापना हो।

पदार्थ पर आधारित समभाव सत्ता निर्भर रहता है। सत्ता से नियत्रित व्यक्ति जड़ वन जाता है। उसे सग्रह-त्याग मे वह आनन्द नही आता, जो आत्म-नियमन करने वाले व्रती को आ सकता है।

## अणुव्रत की कार्य-दिशा

जीवन की आवश्यकताये जो है, उनकी उपेक्षा नही की जा सकती। किन्तु उनकी पूर्ति राज्यसत्ता या उसकी समातर शक्ति पर निर्भर है। अणुव्रत आंदोलन व्रतप्रधान है। इसलिए इसकी कार्य-दिशा उससे भिन्न है। इसका सम्वन्ध जीवन की पवित्रता से है। आवश्यकता के अतिरेक अथवा परिस्थिति की जटिलता से जो वुराइया वढ़ती है, उन्हे मिटाना इसका उद्देश्य हैं। परिस्थितिया जव-कभी भी वुरी हो सकती हैं, किन्तु उसके कारण व्यक्ति वुरा न वने—यह भावना हैं। यह तभी सभव है, जवकि मानव-समाज कठिन जीवन जीने का अभ्यासी वने।

आज की दुनिया मे जो राजनीतिक और आर्थिक स्पर्धाये चल रही हैं, उनसे व्यक्ति अमानुपिक कार्य कर रहा है। उसकी अमानुपिक वृत्तियां मिटे इसके लिए आंदोलन की दो अपेक्षाएं हैं—

१ मनुष्य शस्त्रनिष्ठ न वनकर अहिंसानिष्ठ वने।

२. मनुष्य भोगी न बनकर त्यागी वने।

अपनी लक्ष्य-प्राप्ति के लिए यह आंदोलन तीन मोर्चों पर कार्य कर रहा है—

१. जीवन-शुद्धि की सामान्य भूमिका की प्रस्तुति।

२. धार्मिक मतभेदो के प्रति व्यक्ति को सहिष्णु बनाना।

३. धर्म, जो सिद्धांत और भाषा का विषय बन रहा है, उसे आचरण बनाने की स्थिति पैदा करना। प्रतिष्ठा और बड़प्पन के मूल्यों को बदलकर व्यक्ति के मूल्याकन को बदलना।

## संयम ही जीवन की सार्थकता है

अणुव्रत के कार्यक्रम को प्रारम्भ हुए बहुत लम्बा समय नही हुआ है, फिर भी इसकी उपयोगिता और आवश्यकता लोगो को समझ मे आने लगी है। किन्तु अभी तक लोग अणुव्रत की आचार-संहिता को संकल्प के रूप मे स्वीकार करने मे हिचकिचाते है। इसका एक बडा कारण यह है कि उच्चवर्गीय कहलाने वाले व्यक्ति तथा सरकार के उच्च अधिकारी शायद व्रतों को स्वीकार करना आवश्यक नही समझते, अणुव्रत की आचार-सहिता को अपने लिए अपेक्षित नही मानते। अपने को दूध का धुला जो मानते हैं। दूसरे लोग उनकी ओर देखते हैं, उनके कार्यो की ओर देखते हैं। उन्हे उनसे जीवन-शुद्धि की प्रेरणा नही मिल रही है। इसके विपरीत वे उनसे प्रेरणा पा रहे हैं जीवन को विलासी बनाने की, अधिक-से-अधिक अर्थ-संग्रह की। इस स्थिति मे आम आदमी का व्रत की ओर झुकाव न होना स्वाभाविक ही है। पर मैं उच्च-वर्ग, सरकारी अधिकारी-वर्ग तथा सामान्य-वर्ग सभी से कहना चाहता हूं कि भोग-विलास और अर्थ के संग्रह मे व्यक्ति के जीवन की सार्थकता नही है। जीवन की सार्थकता है संयम मे। संयम ही व्यक्ति को सुख और शांति का आस्वादन कराने मे सक्षम है। इसलिए सभी लोग व्रत की कीमत आंके। कीमत आकने का तात्पर्य यह कि वे यथाशक्य व्रतों को स्वीकार करें, अणुव्रती बनें।

बम्बई
१ अक्टूबर १९५४

# ५६. विश्वशांति के लिए अहिंसा

आज ससार मे सर्वत्र अशाति का वातावरण है। विकसित राष्ट्र भी अशात है और विकासोन्मुख राष्ट्र भी। न धनी सुखी है और न गरीब ही। इसका क्या कारण है ? कारण वहुत स्पष्ट है। मनुष्य अपने मार्ग से भटक कर उन्मार्गगामी वन गया है। सुख-शाति का एकमात्र मार्ग है—अहिंसा। लेकिन न जाने क्यो आदमी ने अहिंसा का राजपथ छोडकर हिंसा की कंटकाकीर्ण पगडडी पकड़ ली। उसी का यह दुष्परिणाम उसे भोगना पड़ रहा है।

चूकि हिंसा सदा हिंसा को आमत्रण देती है, वढ़ावा देती है, इसलिए वह आगे-से-आगे वढ़ती रही। वढ़ते-वढ़ते आज वह भयकर की स्थिति मे पहुंच गई है। उसकी तेज लपटो मे आदमी झुलसने लगा है। यही कारण है कि हिंसा के प्रति अव घृणा का वातावरण वन रहा है। आदमी उससे छूटना चाहता है। भारतवर्ष की सस्कृति अहिंसाप्रधान सस्कृति रही है। वह कहती है—हिंसा जीवन की किन्ही परिस्थितियो मे मजवूरी हो सकती है, पर वह जीवन का मूल्य नही है। जीवन का मूल्य अहिंसा है। भारतीय सस्कृति ने इस स्वर को सदा वुलद किया है। संसार भर के लोग उससे अहिंसा की प्रेरणा लेते रहे है। आज जवकि लोग हिंसा से उकता कर अहिंसा की ओर मुड़ रहे है, भारतीय लोगो का काम है कि वे अहिंसा के व्यापक प्रचार-प्रसार के द्वारा इस मोड़ को और गति दे। विश्व-शाति की दृष्टि से यह अत्यन्त आवश्यक है। पर प्रचार-प्रसार मात्र भाषणवाजी से नही होगा। उसके लिए अपेक्षित है, वे स्वय इसे अपने जीवन मे जिए। जीवन के द्वारा होनेवाला प्रचार-प्रसार ही वास्तविक प्रचार-प्रसार है। अणुव्रत आदोलन अहिंसा को जीवन मे जीने का मार्ग प्रशस्त करता है। अपेक्षा है, व्यक्ति-व्यक्ति अणुव्रत की आचार-संहिता को स्वीकार कर अहिंसा को जीवनगत वनाए।

वम्वई
२ अक्टूवर १९५४

# ५७. श्रमण-संस्कृति

श्रमण-सस्कृति का मूल आधार है—श्रम। यानी जीवन-विकास के निमित्त पुरुषार्थ। 'श्रमण' शब्द के विश्लेषण मे जाएं तो हमे इसके मूल मे 'श्रम' 'शम' और 'सम' ये तीन शब्द मिलेंगे। जो संस्कृति पुरुषार्थ की संस्कृति है, उपशमन की सस्कृति है, समता की संस्कृति है, उसका नाम है श्रमण-सस्कृति। जैन और बौद्ध ये दोनो सांस्कृतिक धाराएं श्रमण-संस्कृति के नाम से अभिहित होती है। यदि तुलनात्मक रूप मे विवेचन करे तो हम पाएंगे कि दोनो मे बहुत से पहलुओ मे समानता है। कुछ पहलू ऐसे भी हैं, जिनमे पूर्ण समन्वय नही है। पर प्रत्येक धर्म और दर्शन के अनुयायियो के लिए यह अपेक्षित है कि जिन-जिन तत्वो मे समन्वय या सामंजस्य है, उन्हे आगे रखते हुए वे जीवन-विकास की ओर अग्रसर हों।

## समन्वय खोजा जा सकता है

जैन-दर्शन जहां सुचीर्ण—सुकृत कर्मो का फल सत् बताता है और दुश्चीर्ण अर्थात् दुष्कर्मों का फल असत्, उसी तरह बौद्ध-दर्शन भी बुराइयो के त्याग और भलाइयो के स्वीकार की बात कहता है। जैन-दर्शन मे मुख्य नौ तत्त्व है—जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, सवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष। बौद्ध-दर्शन के मुख्य तत्त्व चार है—दु:ख, समुदय, मार्ग और निरोध। दु:ख के पांच भेद हैं—विज्ञान, वेदना, सज्ञा, सस्कार और रूप। सख्या मे चार और नौ इतने लम्बे अन्तर को देखकर सहसा एक व्यक्ति के दिमाग मे यह ख्याल उठेगा कि फिर दोनो का सामंजस्य कैसे सध सकता है? पर सापेक्ष दृष्टि से गवेषणा करे तो समन्वय होना कठिन नहीं होगा। दु:ख का अर्थ है—आनुकूल्य-प्रातिकूल्यमय वेदना, संस्कार। जैन-दर्शन के पुण्य, पाप और बंध से इनकी तुलना हम कर सकते है। जो दु:खोत्पत्ति के हेतु हैं, उनका नाम है—समुदय। यह आस्रव से उपमित किया जा सकता है। आस्रव भी तो कर्मागम का द्वार है। जीवन में शांति आ सके, यह दिशा जो दे, उसका नाम मार्ग है। यह सवर और निर्जरा से तुलित किया जा सकता है। सवर से कर्म-प्रवाह का निरोध और निर्जरा से अशुभ संचित का अपगम होता है।

फलतः मुक्ति अर्थात् दुःखो से छुटकारा मिलता है। इसी भाव को बौद्ध दर्शन ने निरोध कहा है। इसी प्रकार अन्यान्य तत्त्वों मे भी समन्वय खोजा जा सकता है।

बम्बई
३ अक्टूबर १९५४

## ५८. अणुव्रत आंदोलन का घोष

### आचार और विचार

आचार और विचार—ये जहां दो हैं, वहां एक भी है। इनमे जहा पौर्वापर्य (पहले-पीछे का भाव) है, वहा नही भी है। विचार के अनुरूप ही आचार बनता है अथवा विचार ही स्वयं आचार का रूप लेता है। आर्ष वाणी मे मिलता है—**'पढमं नाणं तओ दया'**—पहले विचार और पीछे आचार। विचार शुद्ध नहीं तो आचार कैसे शुद्ध होगा। शुद्ध विचार के बिना आचार शुद्ध नही बनता। आचार विचार के अनुकूल चले, तब उनमे द्वैध नही रहता। जहां विचार के अनुकूल आचार नही बनता, वहां वे दो बन जाते हैं। अपेक्षा है, विचार और आचार में सामंजस्य आए।

कई व्यक्ति ऐसे हैं, जिनमे विचारो की स्फुरना नही है, उन्हे जगाने की आवश्यकता है।

कई व्यक्ति जागृत है, किंतु उनकी गति संयम की दिशा मे नही है, उनकी गति बदलने की आवश्यकता है।

कई व्यक्ति सही दिशा पर हैं, किन्तु उनके विचार केवल विचार तक ही सीमित हैं, उन्हे सावधान करने की आवश्यकता है।

मूल बात यह है कि आज आचार-शुद्धि की आवश्यकता है। उसके लिए विचारक्रांति चाहिए। उसके लिए सही दिशा मे गति और उसके लिए जागरण अपेक्षित है।

### व्यक्ति का बदलाव जरूरी है

राजनीति की धारा परिस्थिति को बदलना चाहती है और वह उसको बदल सकती है। अणुव्रत का मार्ग सयम का मार्ग है। इसके द्वारा हमे व्यक्ति को बदलना है। परिस्थिति बदले, इससे हमारा विरोध नहीं, किन्तु उसके बदलने पर भी व्यक्ति न बदले अथवा दूसरे पथ की ओर मुड़ जाए, यह वाछनीय नही है। सामग्री के अभाव मे जो कराहता रहे, वही उसे पाकर विलासी बन जाए, यह उचित नही है। संयम की साधना नही होती, तब यह होता है। संयम का लगाव न गरीबी से है, न अमीरी से। इच्छाओ पर विजय हो—यही उसका ध्येय है।

## इच्छाओं पर नियंत्रण हो

संभव है, इच्छाएं एक साथ नष्ट न भी हो, किन्तु उन पर अंकुश तो रहना ही चाहिए। शक्तिशाली और पूंजीपति वर्ग को इच्छाओं पर नियन्त्रण करना है और अधिक संग्रह को त्यागना है। गरीबो के लिए अधिक सग्रह के त्याग की वात नही आती, किन्तु इच्छाओ पर नियन्त्रण करने की वात तो उनके लिए भी वैसी ही महत्त्वपूर्ण है, जैसी धनी लोगो के लिए।

उच्च कहलाने वाले वर्ग के लिए यह चुनौती है कि वह सतोषी वने। निम्न वर्ग स्वयं उसके पीछे चलेगा। जब तक ऐसा नही होता है, तब तक देखा-देखी या स्पर्धा मिटती नही।

विश्व की जटिल परिस्थितियो, मानसिक और शारीरिक वेदनाओ को पाता हुआ भी मानव समाज नहीं चेतेगा? जीवन की नश्वरता और सुख-सुविधाओ की अस्थिरता को समझते हुए भी वह नही सोचेगा?

जीवन की दिशा वदलने के लिए हम सवका एक घोष होना चाहिए —**'संयमः खलु जीवनम्'**। अणुव्रत आंदोलन का यही घोष है। जीवन के क्षण-क्षण में शांति आए, उसके लिए यह नितांत आवश्यक है।

# ५९. सुख-शान्ति का मार्ग

अणुव्रत आन्दोलन व्रतों का आंदोलन है, जीवन-शुद्धि का आंदोलन है। वह कहता है—व्यक्ति भूलों का पुतला है। वह अनजान मे भी भूल करता है और जानबूझकर भी। इस स्थिति में यह अपेक्षित है कि वह अपनी पिछली भूलो को समझे, उसके लिए हृदय मे अनुताप करे, प्रायश्चित्त करने और भविष्य मे उनको न करने का संकल्प ग्रहण करे। मैं मानता हूं, सुधार की यही एकमात्र प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया को अपनाकर व्यक्ति अपना सुधार कर सकता है, अपने भविष्य को उज्ज्वल बना सकता है, अपने जीवन का निर्माण कर सकता है।

## जीवन की सार्थकता

यह एक सर्वविदित तथ्य है कि मनुष्य सुख चाहता है, शांति चाहता है। दुःख और अशांति किसी को भी काम्य नहीं है। पर सुख और शांति की प्राप्ति कैसे हो, यह एक प्रश्न है। वैज्ञानिक आविष्कारो से सुख-शांति नहीं मिल सकती। भौतिकवाद भी सुख-शाति का मार्ग नही है। उसका मार्ग है—आत्म-दर्शन। अणुव्रत आंदोलन व्यक्ति-व्यक्ति को आत्म-दर्शन की ओर मोड़ता है, आत्म-नियत्रण की प्रेरणा देता है। वह कहता है—अपनी इच्छाओ को नियन्त्रित करो, लालसाओं का संवरण करो, संयम का जीवन जीओ। हालांकि यह बहुत स्पष्ट बात है कि हर व्यक्ति साधु नही बन सकता। उसे अर्थ के साथ जुड़कर रहना पड़ता है। फिर भी इतना तो आवश्यक है ही कि वह अर्थ में मूर्च्छित न बने। अर्थ का अनावश्यक संग्रह न करे। गलत साधनो से अर्थ का उपार्जन न करे। यदि इस सीमा तक भी वह अपने-आपको संयमित कर लेता है, नियंत्रित कर लेता है, तो उसको जीवन-निर्माण की दिशा मिल जाती है। सुख और शांति की प्राप्ति का मार्ग उसके लिए प्रशस्त बन जाता है।

## अणुव्रत आन्दोलन जन-आन्दोलन है

अणुव्रत आंदोलन जन-जन का आंदोलन है। हालांकि इसका प्रवर्तन मैंने अवश्य किया है, पर मूलतः यह जनता से सम्बन्धित है। संयम के प्रति निष्ठाशील व्यक्ति आत्म-प्रेरणा से इसके संकल्प स्वीकार करते हैं। मैं या

साधु-साध्वियां तो मात्र साक्षी हैं। इस कार्यक्रम को अपना कर हजारो-हजारो व्यक्तियो ने सुख और शाति के द्वार का उद्घाटन किया है; जीवन की पवित्रता को साध कर मनुष्य जीवन की सार्थकता को पाया है। आप भी इस महान् उपलब्धि के लिए अणुव्रती बनें। आपका भाग्य-सितारा चमक उठेगा।

मुम्बई
१७ अक्टूबर १९५४

# ६०. अणुव्रतियों की कार्य-दिशा

आज के इस कार्यक्रम को देखकर मुझे देहली का वह समय याद आ रहा है, जबकि चांदनी चौक में लगभग पांच सौ व्यक्तियो ने खड़े होकर अणुव्रत के नियमों को अंगीकार किया था। सबने सुना, सोचा और कइयो ने सदेह की दृष्टि से भी देखा। वे आशंकायें भी सर्वथा निरर्थक नही थी। आज के इस अनीतिमय वातावरण मे चंद व्यक्ति नैतिक जीवन बिताना चाहे तो यह कैसे सम्भव हो सकता है? पर मैं देखता हूं कि अणुव्रती बन्धुओं ने आत्मबल, साहस और धैर्य के साथ उन व्रतो का पालन किया है। फलस्वरूप आज वे आशंकायें भी काफूर हो गई हैं, होती जा रही हैं।

## स्वयं का सुधार ही पर्याप्त नहीं है

मैं मानता हूं कि अणुव्रती भाई-बहन व्यक्तिगत बुराइयो को दूर करने के लिये कटिबद्ध है। पर आज का युग-चिन्तन कुछ दूसरा है। आज प्रगति और सुधार का मापदण्ड बदल चुका है। लोग व्यक्ति के सुधार को ही सुधार नही मानते। उनका चिन्तन है कि व्यक्ति स्वय सुधर कर दूसरो को सामष्टिक रूप मे सुधारे। सुधारकों की यह विचारधारा एक दृष्टि से सही भी है। माना कि अपना घर साफ-सुथरा है, पर उसके आस-पास मे यदि गन्दगी है तो क्या उसकी बदबू आपके घर में नही आयेगी? वह आयेगी ही। उसे नही आने देना है तो आसपास की गन्दगी को भी साफ करना होगा। मैं अणुव्रती बन्धुओ से कहूंगा—उनके लिये अपने-आपको ही उठा लेना पर्याप्त नही है। अपेक्षा है, उनमें से प्रत्येक वर्ष में कम-से-कम पांच अणुव्रती अवश्य बनाये। वे समाज की रूढ़ियों और बुराइयों को दूर करने की दृष्टि से प्रयत्नशील हों। अगर वे इस तरह जन-जन को आंदोलन के अनुकूल बनायेंगे तो आदोलन फलेगा-फूलेगा ही, स्वस्थ समाज का निर्माण भी हो सकेगा।

कई अणुव्रती बन्धु अपना सामाजिक संगठन चाहते हैं। अगर वह बन गया तो अवश्य ही अनीति के खिलाफ एक सशक्त मोर्चा तैयार होगा; अनीति अपनी मौत मर जाएगी। सभी अणुव्रतियों ने इस विषय में

क्या चिंतन किया है —यह मैं नहीं कह सकता। उनमें वह आत्म-शक्ति मैं पैदा करूं, इससे पहले यह आवश्यक समझूंगा कि वे स्वयं इस ओर जागरूक हों। उनके जीवन का एक ही सूत्र हो—'संयमः खलु जीवनम्'—सयम ही जीवन है। अणुव्रतियों को इसी दिशा मे प्रयास करना है और विश्व की भोगमयी दिशा को वदल देना है।

वम्बई
१८ अक्टूवर '५४

# ६१. अणुव्रतियों का लक्ष्य

आज का दिन वह दिन है, जिसकी अणुव्रती भाई-बहन एक वर्ष से प्रतीक्षा करते आ रहे थे। जोधपुर में एक वर्ष पहले अणुव्रतियों ने व्रत ग्रहण किये थे। उन्होने अनेक विघ्न-बाधाओं के उपरांत भी व्रतों को आत्मनिष्ठा, धैर्य और साहस के साथ निभाया। जहां-कहीं स्खलना हुई है, उसे भी वे ऋजुतापूर्वक प्रकट कर रहे है। इससे लगता है कि वे पाप-भीरु बन गए है। व्रती-जीवन से पूर्व जो लोग सरकार के नियमों को तोड़ने में भी संकोच तक नही करते थे, उनमे आज इतनी भी हिम्मत नहीं रह गई है कि वे एक पुस्तिका के नियमो को भी तोड सकें!

अणुव्रतियों का एक मात्र लक्ष्य होना चाहिये—जीवन-जागरण, आत्म-उत्थान। इसी लक्ष्य को सामने रखते हुए वे आगामी वर्ष के लिये अपनी समस्त आत्म-शक्ति को बटोरकर अणुव्रती बने और क्रमशः आगे बढ़े। जो अणुव्रती नहीं है, वे अणुव्रतियों के जीवन से प्रेरणा लेकर अणुव्रती बनें।

कई लोग कहते है कि अणुव्रतियों के सामने बहुत कठिनाइयां हैं। पर मैं तो समझता हूं कि जो ज्यादा खुले हैं, उनके सामने कठिनाइयां अधिक हैं। कल ही एक भाई ने बताया—कुछ समय पूर्व हमने देखा कि जो अणुव्रती नही थे, उन्होने आर्थिक लाभ काफी उठाया, पर कुछ ही समय बाद जब हमने उसकी दुर्गति होते देखी तो व्रतो का परिपूर्ण फल मालूम हुआ। इसलिए अणुव्रती भाई-बहिनों से मैं कहना चाहता हूं कि वे हर स्थिति में अपने नियमो में दृढ रहें। सत्य, नैतिकता और प्रामाणिकता की टेक को न छोड़े। देर-सवेर उसका सुखद परिणाम वे स्वयं देखेगे।

बम्बई
२५ अक्टूबर '५४

# ६२. आत्म-विकास और लोक-जागरण*

कुछ दिन ऐसे होते है, जब कि चालू व्यवस्था कुछ उलट-पुलट-सी हो जाया करती है। सदा का वक्ता मैं आज श्रोता के रूप मे हूं। सुनना भी वह, जिसे सुनने की मुझे कोई अभिरुचि नही। मेरी तो रुचि नही, पर लोगो की अत्यन्त अभिरुचि है। वे बोलने को हृदय से उत्सुक है। और यही कारण है कि अपने यहा जन्म-दिवस मनाने की कोई परम्परा न होते हुए भी उनके भक्तिपूर्ण उल्लास ने समारोह का रूप-सा ले लिया है। पर आप सबको मालूम ही है कि अपने यहां तो कोई भी दिन मनाया जाए, उसका एकमात्र लक्ष्य है—आत्म-जागरण की प्रेरणा लेना और जीवन-विकास के पथ पर आगे बढना। मेरी दृष्टि मे आपके उत्साह एवं उल्लास की सफलता इसी में है कि आप अपने जीवन को त्याग व संयम की साधना मे आगे बढ़ायें।

मुझे याद नही कि कार्तिक शुक्ला द्वितीया को मेरा जन्म हुआ और न किसी को अपनी जन्म-तिथि याद ही रहती है। औरों की तरह मै भी जानता हूं कि यह मेरा जन्म-दिवस है। किस व्यक्ति का कहा और कब जन्म हुआ, इसका क्या महत्त्व है। महत्त्व तो जीवन का है, जीवन-साधना का है। जब से आचार्य पद का उत्तरदायित्व मुझ पर आया, तब से मेरे में अपने जीवन से सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु को अत्यन्त सूक्ष्मता से परखने की वृत्ति बढ़ी। क्यों ? मुझे उसे सफल जो बनाना है। अतः मेरा यह जन्म-दिवस मेरे लिये सिंहावलोकन, आत्म-पर्यवेक्षण का दिन है। विगत जीवन की बहुत-सी बातें मुझे आज याद आती हैं, पर मुझे तो आगे की मजिल तय करनी है। बहुधा मैं सोचा करता हूं—मुझे एकांत में मौन साधना करनी चाहिये। जितना अवसर मिलता है, करता भी हूं। पर सघ के उत्तरदायित्व को देखते हुए जितनी मेरी इच्छा है, उतनी तो बन नही पाती। फिर भी उसका मुझे असंतोष नहीं है। लोक-जागरण के लिये जो कुछ करता हूं, वह भी तो साधना का ही एक रूप है। मैं उपस्थित भाई-बहिनो से कहना

---

* ४१वें जन्म-दिवस पर प्रदत्त प्रवचन।

चाहूंगा कि वे अपने जीवन को मांजने व परिष्कृत करने की दृष्टि से सजग हों, ताकि उनकी भक्ति, उत्साह व उल्लास की सच्ची सार्थकता हो सके।

## ६३. लोक-जीवन अहिंसा की प्रयोगशाला बने

संसार के सामने दो मार्ग हैं। एक मार्ग हिंसा का है और दूसरा मार्ग अहिंसा का। हिंसा और अहिंसा के बीच श्रेष्ठता का निर्णय हो चुका है। किन्तु कौन-सा मार्ग अपनाया जाए, यह निर्णय अभी तक नही हुआ है।

लोग जहां हिंसा से कतराते हैं, वहां अहिंसा से भी भय खाते हैं। विश्वास बन रहा है—अहिंसा का मार्ग कठोर है। हिंसा सचमुच खतरनाक है, पर उसका मार्ग सीधा है—ऐसी समझ बन रही है। इसीलिये एक अध्यात्म-योगी ने कहा है—

'मूढ़ात्मा यत्र विश्वस्तस्ततो नान्यद्भयास्पदम्।
यतो भीतस्ततो नान्यदभयस्थानमात्मनः॥'

—मूढ़ व्यक्ति हिंसा मे विश्वास करता है। उसके लिये उससे बढ़कर कोई दूसरा खतरा नही। वह हिंसा से भय खाता है। उसके बराबर दूसरा कोई अभय का स्थान नही।

### अहिंसा कठिन क्यों लगती है ?

हिंसा का आकर्षण इसलिये है कि उसमे भोगवृत्ति पलती है। भोग छूटे, तब रोग मिटे। भोग सामग्रीसापेक्ष है, सामग्री परिग्रहसापेक्ष है और परिग्रह हिंसासापेक्ष है। लोग न तो भोग छोड़ना चाहते हैं और न परिग्रह ही। वे केवल हिंसा छोड़ना चाहते हैं। किन्तु उन दोनो के छूटे बिना हिंसा छूटती नही और तब अहिंसा का मार्ग कठोर लगता है। अहिंसक को विलास, ऐश्वर्य और सामग्रीसापेक्ष बड़प्पन का मोह त्यागना ही होगा। अहिंसा में सहज आनन्द है। पर जब तक बाहरी विकार बना रहता है, तब तक उसकी अनुभूति नही हो सकती। विकार व्यक्ति को व्यामोह में डालता है और उसके मौलिक आनन्द को दबाये रखता हैं। अहिंसा मन, वाणी और देह की निर्विकार स्थिति है। इसके लिये बाहरी पदार्थों की सीमा अत्यन्त अपेक्षित है। बाहरी पदार्थ ममकार पैदा करते हैं और ममकार विकार पैदा करते हैं। केवल तर्कवाद पर चलनेवाले पदार्थ-वृद्धि को सुख का साधन बताते हैं, पर अनुभव ऐसा नही बताता। आवश्यकता की निस्सीमता घोर अपवित्रता

लाती है, इसे जो नहीं सोच सकते, वे विश्वास करके चलें और जो सोच सकते हैं, वे अनुभव की कसौटी पर कसकर देखें। पदार्थ की मर्यादा से कैसा आनन्द मिलता है, इसका प्रयोग कर देखें। ऐसा प्रयोग चले और आगे बढ़े तो अहिंसा बहुत फल ला सकती है।

अहिंसा-दिवस मनाने की सफलता इसमे ही है कि लोक-जीवन अहिंसा की प्रयोगशाला बने।

# ६४. मानव-धर्म का आचरण

## सबसे बड़ा कर्त्तव्य

त्याग, संयम और चरित्र—भारतीय जीवन के ये तीन आदर्श रहे हैं। धन भारतीय जीवन का आदर्श कभी नही रहा। जीवन चलाने के साधन से अधिक प्रतिष्ठा उसको कभी नहीं दी गई। जीवन-मूल्यों के रूप मे सर्वोच्च प्रतिष्ठा त्याग, संयम और चरित्र को ही मिली। ये ही वे तत्त्व हैं, जिनके कारण भारत का मस्तक सदा ऊंचा रहा। भारतीय ऋषि-मुनियों ने इन तीनों तत्त्वों को जीकर जीवन-मूल्यों के रूप मे प्रतिष्ठित किया था। विदेशी लोग यहा त्याग, संयम और सच्चरित्र की शिक्षा लेने आते थे और इन्हे प्राप्त कर अपने जीवन को सफल समझते थे। मेरी दृष्टि मे त्याग, सयम और चरित्र भारतीय लोगो की मूल सम्पत्ति है। पर आज भारतीय लोग अपनी इस मूल सम्पत्ति की उपेक्षा कर रहे हैं। उसका मूल्य कम करके आंक रहे हैं। यह सचमुच ही एक अनिष्ट प्रसग है, गभीर चिंतन का विषय है। मैं भारतीय लोगो से बहुत आग्रहपूर्वक कहना चाहता हूं कि वे अपनी त्याग, संयम और सच्चरित्रमूलक सस्कृति का यथार्थ मूल्यांकन करें। उसका सरक्षण करना उनका सबसे बड़ा कर्तव्य है।

आज युग की स्थिति पर जब हम दृष्टिपात करते है तो यह बहुत स्पष्ट रूप से प्रतिभासित होता है कि नैतिकता का अत्यधिक पतन हुआ है। मानव अपनी मानवता को भूलता चला जा रहा है। यह त्याग और सयम-मूलक संस्कृति को पुन: प्रतिष्ठित करना आवश्यक है। दूसरे शब्दो मे यह कार्य मानव-धर्म के आचरण से ही संभव है। मानव-धर्म त्याग, संयम और सदाचार का ही तो नाम है।

## धर्म है जीवन का परम विज्ञान

कुछ लोग धर्म के नाम से नफरत करते हैं। ऐसा क्यो? धर्म कोई नफरत करने का तत्त्व तो नही है। धर्म तो व्यक्ति के लिए भोजन, पानी और श्वास से भी ज्यादा आवश्यक है। धर्म तो जीवन का परम विज्ञान है, जीवन जीने की कला है, जीवन के सुख और शांति का एकमात्र आधार है, जीवन की पवित्रता का मूल मंत्र है। ऐसी स्थिति मे कोई भी व्यक्ति वास्तव में

उससे नफरत कैसे कर सकता है। उससे नफरत करने का अर्थ होगा—जीवन से नफरत करना, जीवन की शांति से नफरत करना, जीवन की पवित्रता से नफरत करना। फिर नफरत की वात का अर्थ ? वास्तव मे जो लोग धर्म से नफरत करते हैं, वे धर्म के नाम पर चलनेवाली अन्धरूढता, अज्ञान, दंभ-चर्या और छलना से नफरत करते हैं। तथाकथित धार्मिकों का जीवन और जीवन-व्यवहार उनके मन मे नफरत की भावना पैदा करने का मूलभूत कारण है। यदि धार्मिक कहलानेवाले लोगो का जीवन धर्म के मौलिक स्वरूप के अनुरूप हो तो यह नफरत की भावना कभी पैदा नही हो सकती। इसलिए धार्मिक कहलानेवाले लोगों के लिए यह अत्यत आत्मालोचन का विषय है। वे इस स्थिति पर गहराई से ध्यान देकर अपने जीवन की धारा को सही दिशा मे मोड़े। इससे ही धर्म के प्रति पैदा होने वाली घृणा की स्थिति समाप्त हो सकेगी और उससे भी अधिक उनका स्वयं का जीवन सार्थक हो सकेगा। वे जीवन जीने का सच्चा आनन्द प्राप्त कर सकेंगे।

## स्वयं से शुभ शुरुआत हो

मैं मानता हूं, जो लोग देश मे नैतिकता के दुर्भिक्ष को मिटाना चाहते हैं, मानवता को पुन: ससम्मान प्रतिष्ठित करना चाहते हैं, वे स्वयं से इस कार्य की शुभ शुरुआत करें। स्वयं नैतिकता एवं मानवता के सांचे मे ढले और जन-जन को उस दिशा मे प्रेरित करें। 'अणुव्रत' भारतीय त्याग-संयममय संस्कृति का सदेशवाहक है, मानव-धर्म है, नैतिक चेतना जगाने का अभियान है, मानवीय मूल्यो की प्राण-प्रतिष्ठा का सकल्प है। अपेक्षा है, अणुव्रत-भावना का घर-घर प्रचार-प्रसार हो।

वम्वई
६ नवम्वर १९५४

# ६५. शान्ति की खोज

आज विश्व मे चारो ओर शाति की पुकार है। पर शाति का मार्ग नही मिल रहा है। क्यों ? इसका कारण स्पष्ट है। जहा पर शाति की खोज है, वहां पर शांति है नही, और जहा पर शांति है, वहां उसकी खोज नही हो रही है। इस भूल का संशोधन करना बहुत जरूरी है।

जीवन का लक्ष्य आनन्द की प्राप्ति है। आनन्द शाति के बिना मिलता नही। हृदय मे अशाति है तो आनन्द की कल्पना ही कहां। भारतीय विचारधारा मे शांति का मार्ग अभय है, अहिंसा है। अभय का सम्वन्ध सिर्फ अपने से ही नही है। जो स्वय अभय वनना चाहता है, उसे दूसरे को भी अभय करना आवश्यक है। दूसरे की शांति लूटकर अगर कोई व्यक्ति स्वय शांति पाना चाहता है तो उसकी चाह कभी फल नही सकती।

आज अनेक राष्ट्र अनेक तरह के संहारक और प्रलयंकारी अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण कर रहे हैं। और वे भी शांति और रक्षा के लिए वताए जाते हैं। पर मेरी दृष्टि में संहारक शस्त्रों से शाति की कल्पना सर्वथा निरर्थक है। हिंसा से हिंसा और अशांतिपूर्ण साधनो से अशांति मिटती नही। 'शाति के लिए अस्त्र-शस्त्रो का निर्माण करते हैं' जो लोग ऐसा कहते हैं, उनके कथन को क्या कोई दूसरा मानने को तैयार होगा। सब राष्ट्र भयभीत हैं। दूसरो की शस्त्रों की तैयारी से अपने अस्तित्व के बने रहने के सदेह कर रहे हैं। यही संदेह उन्हे भी शस्त्र-निर्माण के लिए वाध्य कर रहा है। यद्यपि वे ऐसा करना नही चाहते। और इस तरह वे भी अशांति में पड़ रहे हैं। अशांति के व्यापक वनने मे यह प्रमुखतम कारण हैं। जव तक यह संदेह की भावना नही मिटेगी, तव तक अस्त्र-शस्त्रो का निर्माण कम नही हो सकता, शांति तो और भी दूर है।

अगर निम्नलिखित बातो पर ध्यान दिया जाए तो शाति का मार्ग प्रशस्त हो सकता है—

१. सवके साथ समानता की दृष्टि हो।

२. घृणा की भावना का त्याग हो।

३. पर-अधिकार-हरण की भावना का त्याग हो।

४. जाति, लिंग, वर्ग, वर्ण और अर्थ के भेद के आधार पर ऊंच-नीच की भावना मिटे।

५. मूल्यांकन की दृष्टि मे परिवर्तन आए।

६. त्याग-भावना को प्रश्रय दिया जाए।

७. संग्रह और शोषण की भावना मिटे।

मैं आशा करता हूं, इन बातों पर गंभीरता से चिंतन कर इन्हे अमली जामा पहनाया जाएगा।

बम्बई
७ नवम्बर १९५४

## ६६. जीवन में अहिंसा

संसार में ऐसा कोई भी प्राणी नहीं होगा, जो दु:खी बनना चाहे। फिर अपनी ओर से किसी को दु:ख देना, कहा तक उचित है, यह हर व्यक्ति के लिए चिंतन का विषय है। किसी का जी दुखाना भी हिंसा है। अहिंसा-निष्ठ व्यक्ति को इससे बचने के लिए सदैव सजग रहना चाहिए। आज स्थिति ऐसी बन गई है कि व्यक्ति मे दिखावा अधिक रह गया है, असलियत कम। पर अहिंसा जैसे धर्म-तत्त्व दिखावे से पोषण नही पाते, उनके लिए तो व्यक्ति को अपनी आत्मा झोकनी होगी, दृढ़निष्ठा के साथ उनका प्रतिपालन करना होगा। अणुव्रत आंदोलन का लक्ष्य यह है कि मानव के व्यावहारिक जीवन मे अहिंसा प्रतिष्ठित हो। मैत्री, सतोष, सह-अस्तित्व, संयमवृत्ति आदि अहिंसा के ही इर्द-गिर्द घूमने वाले तत्त्व हैं। इन तत्त्वो का अधिक-से-अधिक विकास हो, जिससे कि मानव सही माने मे मानव कहलाने योग्य हो सके। यह हर्ष का विषय है कि अणुव्रत आंदोलन की ओर दिन-पर-दिन जन-मानस खिचता जा रहा है। लोग अधिक-से-अधिक उसमे रस लेते जा रहे हैं। 'अहिंसा दिवस', जो अणुव्रत आंदोलन की अहिंसा-मूलक भावना का प्रतीक है, उत्तरोत्तर जन-जन के आकर्षण का केन्द्र बनता जा रहा है। यह अहिंसा-विकास के शुभ भविष्य का परिचायक है। 'अहिंसा-दिवस' के इस सांस्कृतिक अवसर पर मैं व्यापारियो, मजदूरो, किसानो तथा धार्मिक, राजनैतिक व सामाजिक क्षेत्र के कार्यकर्ताओ, जन-नेताओ आदि सभी से अपील करूंगा कि वे जहां तक बन सके, अपने जीवन को अहिंसा के साचे मे ढालने का प्रयास करे।

बम्बई
७ नवम्बर १९५४

## ६७. सबसे बड़ी पूंजी

भारतीय संस्कृति नीति और चरित्रप्रधान संस्कृति है। नीति और चरित्र को यहां सबसे बड़ी पूजी माना गया है। अर्थ जीवन का साधनमात्र रहा है, साध्य नही। साध्य रहा है—संतोप और शांति।

भारतीय नीति और चारित्र के प्रधान अंग है—अभय, अनाक्रमण, अहिंसा, मैत्री, सत्य, प्रामाणिकता, सात्त्विकता, आहार-शुद्धि और सादगी। सपनो की दुनिया मे जीकर भी जो सपनो का नही बनता, वही वास्तविक मानव है। विलास की जिंदगी विताने वाले कभी वास्तविक शांति को छू भी नही सकते। गरीवी अच्छी स्थिति नही है। अमीरी भी अच्छी स्थिति नही है। इन दोनो से परे जो त्याग या संयम है, इच्छाओ और वासनाओं की विजय है, वही भारतीय जीवन का मौलिक स्वरूप है और उसीने भारत को सव देशों का सिरमौर बनने की अर्हता दी थी।

कुछ लोग जीवन-विकास के लिए आवश्यकताओं को वढ़ाने की वात करते है। आवश्यकताओ को वढ़ाने की वात सुनने में मीठी लगती है, किंतु उन्हे वढ़ाने वाले आज कितने असंतुष्ट और अशात हैं, यह कौन नही जानता। भारतीय सूत्र है—आवश्यकताओ की कमी करो। इससे जीवन-शक्तियों का विकास होता है। जीवन-शक्तियो के विकास को दवानेवाला पदार्थ-विकास हमे नही चाहिये।

### शांति का मार्ग

आज विश्व मे चारो ओर विभिन्न राष्ट्रों के कर्णधार शांति की चर्चा कर रहे हैं। शांति की चाह सभी को है, पर मार्ग नही पा रहे हैं। मुझे लगता है, कुछ दिशा-मोह-सा हो गया है। लोग भौतिक समृद्धि और शस्त्रास्त्रों के संग्रह के द्वारा शांति पाना चाहते हैं। पर शांति का मार्ग तो मन की शुद्धि है, आत्म-संयम है, चरित्र-विकास है। भौतिक विकास और शस्त्रास्त्रो के भंडार से उसका दूर का भी संवध नही है, वल्कि ये तो और अधिक अशांति पैदा करते हैं। इसलिए शांति की चाह तभी पूरी हो सकेगी, जव व्यक्ति-व्यक्ति का एतद् विषयक दृष्टिकोण सही वनेगा, उसके जीवन की दिशा वदलेगी, वह सही मार्ग को अपनाएगा।

विकास की चर्चा भी आज जोरो पर है। कुछ लोग समाज-विकास को विकास का आधार मानते हैं। पर मेरी दृष्टि में व्यक्ति-विकास ही विकास का सही आधार है, विकास की सही प्रक्रिया है। व्यक्ति-व्यक्ति के विकास से ही समाज और राष्ट्र का विकास संभव है। अणुव्रत व्यक्ति-विकास का कार्यक्रम है। व्यक्ति-व्यक्ति को चरित्रसम्पन्न वनाकर वह समाज और राष्ट्र को विकास की दिशा मे अग्रसर करना चाहता है।

# ६८. जीवन की सार्थकता

बम्बई का यह सुखद चातुर्मासिक प्रवास सम्पन्न हो रहा है। इस काल में यहां धर्म की एक पावन गंगा प्रवाहित हुई है। धर्म का अनोखा रंग छाया है। मैं मानता हूं, धर्म का जीवन के साथ अविच्छिन्न सम्बन्ध है। उसे जीवन के हर पहलू मे, हर कार्य में पाला जाना चाहिये। मैं उम्मीद करूंगा, जैसा उत्साह इस चातुर्मासिक प्रवास में आपका रहा, वह आगे घटेगा नहीं, प्रत्युत बढ़ेगा।

## धर्म-पथ पर आगे बढ़ना है

इस सन्दर्भ में एक आगमिक घटना का उल्लेख करना चाहता हूं। केशी कुमारश्रमण ने प्रदेशी राजा को अपने उपदेशो द्वारा नास्तिकता से आस्तिकता की ओर लाने के वाद संदेश देते हुए कहा था—"राजन्! पक्के ईख के खेतों मे कैसा सुखद और उल्लासपूर्ण वातावरण होता है! लोग आते हैं, रसास्वादन करते हैं, खुशियां मनाते हैं। पर जव ईख पेर लिये जाते है, उनका गुड़ के रूप मे परिवर्तन हो जाता है, तव जरा खेत की दशा तो देखे—वहां मक्खियां भिनभिनाती हैं। सूखे और नीरस डंठल खडे रहते हैं। वहां कोई आता नही। लोगो की अटखेलियों से भरा-पूरा वह खेत सुनसान बन जाता है। कहीं ऐसा ही यहां भी न हो कि हमारे जाने के वाद तुम्हारी यह आत्मोत्कर्पमयी धर्म-भावना सूनी हो जाये।"

बन्धुओ! इस घटना का स्मरण करता हुआ कहना चाहूंगा कि आपको धर्म के प्रति नीरस और निरुत्साह नहीं वनना है। हमें विदाई दें, पर धर्म-तत्त्व को विदा नहीं करना है। धर्म-पथ पर आत्मवल और साहस के साथ उत्तरोत्तर आगे वढ़ना है। इसी में जीवन की सार्थकता है।

बम्बई
११ नवम्बर १९५४

# ६९. संस्कृति का सर्वोच्च पक्ष

## जीवन की अनुभूति और एकाग्रता

यह मनुष्य जीवन वहुत ही रहस्यभरा है। पर इस जीवन के रहस्य को वहुत कम व्यक्ति ही समझ पाते हैं। समझे भी कैसे ? समझने का मार्ग ही नही अपनाते, वल्कि यह कहना और अधिक यथार्थ है कि उससे विपरीत मार्ग पर चलते हैं। जीवन का रहस्य समझने के लिए तर्क की अपेक्षा अपनी अनुभूति अधिक आवश्यक है। अपनी अनुभूति एकाग्रता से मिलती है। और मन की एकग्रता या स्थिरता चंचलता/प्रवृत्ति की निवृत्ति से मिलती है। पर आज की स्थिति तो आपके सामने है। आदमी प्रवृत्तिवहुल जीवन जी रहा है। दूसरे शब्दो में कहा जाए तो जीवन यांत्रिक वन रहा है। भोग-सामग्री को अधिक-से-अधिक वटोरने के लिए आदमी वेतहाशा दौड़ रहा है। लोगो मे एक स्पर्धा-सी लगी है। ऐसी स्थिति मे जीवन-रहस्य की अनुभूति कैसे हो सकती है।

## शांति का मार्ग

आप गहराई से ध्यान दे तो आपको स्पष्ट मालूम होगा कि भोगवादी सस्कृति आज प्रभावी हो रही है। अधिक भोग से अधिक आकांक्षाएं, अधिक साधन, अधिक हिंसा, अधिक भय और अधिक अशाति—इस प्रकार की सूई घूम रही है।

कभी सशस्त्र युद्ध चलता है और कभी शीत युद्ध। जन-धन की अपार क्षति से जीवन का ढाचा लड़खडा गया है। परस्पर आशंका, अविश्वास और भय का वातावरण वना हुआ है। इसलिए ऊपर से तो शाति और नि:शस्त्रीकरण की चर्चा चलती है, पर अन्दर-ही-अन्दर घातक शस्त्रो का निर्माण हो रहा है। मैं नही समझता, शक्ति की स्पर्धा से कभी शांति मिल सकेगी। शांति का मार्ग है—अपने अधिकारो मे सतोष करना, सहिष्णु वनना। असहिष्णुता के कारण व्यक्ति दूसरो के अधिकारो को सहन नही करता। इसकी परिणति छीना-झपटी मे होती है। वलवान् कमजोर को हड़प लेना चाहता है। यह वृत्ति हिंसा को जनम देती है, संघर्ष पैदा करती

है। ऐसी स्थिति में अशांति का वातावरण समाप्त होने की अपेक्षा उसे और अधिक उत्तेजना मिलती है।

## जीवन-नियम

बन्धुओ ! हिंसा के दुष्परिणामो को सारा संसार बहुत देख चुका है, बहुत भुगत चुका है। वह युद्ध से उकता चुका है। अब उसे वापस मुड़ने की अपेक्षा है। जीवन की दिशा बदलने की जरूरत है। राजनीति और अर्थनीति के नियमों को सर्वोच्च मानकर चलना खतरे से खाली नही है। सर्वोच्चता जीवन के नियम को देनी होगी। उसे सर्वोच्चता देकर ही इस खतरे से उबरा जा सकता है। आप पूछेगे, जीवन का नियम क्या है? जीवन का नियम है—आत्मानुशासन—स्वयं पर स्वयं का नियंत्रण। इस नियम को हृदयंगम कर यदि व्यवहार में उतार लिया जाता है तो अशांति नाम की कोई समस्या शेष नही रहेगी। शांति को प्राप्त करने की बात बेमानी हो जाएगी। शांति की चर्चा करने की अपेक्षा नही रहेगी।

## वैज्ञानिक दृष्टि अपेक्षित है

भोगवादी संस्कृति के प्रभाव की बात मैंने कही। उसके कारण व्यक्ति भौतिक पदार्थों का अंबार लगाना चाहता है। हालांकि मैं मानता हूं कि पदार्थ जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक होते हैं, किन्तु उनका आवश्यकता से अधिक संग्रह अत्यंत दु:खदायी होता है, खतरनाक होता है। इससे जीवन का सात्त्विक आनंद दब जाता है। प्रारंभ मे भौतिक पदार्थों के संग्रह से क्षणिक सुख का आभास मिलता है। किन्तु थोड़े समय पश्चात् ही वह व्यक्ति को अतृप्त, असंतुष्ट और अशांत बना डालता है। इसलिए इस पर वैज्ञानिक दृष्टि डालना अपेक्षित है। वैज्ञानिक दृष्टि से मेरा तात्पर्य है—वह दृष्टि, जो यथार्थवादी हो, जीवन के प्रति सही समझ प्रदान करे, जीवन जीने के सही ढंग से परिचित करवाए।

## जीवन जीने की कला

सही ढंग से जीवन जीने के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति सादगी को अपनाए। जीविका के साधनो को अनीति से सर्वथा दूर रखे। शोषण और अधिकार-हरण से उपरत रहे। अणुव्रत आंदोलन इसी दृष्टि से कार्य कर रहा है। इसको अपनाकर व्यक्ति जीवन के प्रति सही, निश्चित और स्थिर दृष्टिकोण बना सकता है। शब्दांतर से कहा जाए तो अणुव्रत मानव के आंतरिक गुणों को विकसित करने का सत्संकल्प है। आंतरिक गुणों का विकास ही तो जीवन को जीने की सही कला है।

## संस्कृति का सर्वोच्च पक्ष

मैं मानता हूं; आंतरिक गुणों का विकास ही संस्कृति का सर्वोच्च पक्ष है। इससे संस्कृति उजागर होती है। व्रतों के प्रति निष्ठा का भाव भी आंतरिक गुणों के विकास से ही सम्भव है। मैं आशा करता हूं, आप लोग अणुव्रत आंदोलन को अच्छे ढग से समझकर उसे जीवन-व्यवहार के धरातल पर अपनाएंगे। इससे आपका अपना अभ्युदय तो होगा ही, समाज-निर्माण और विश्व-शाति की दिशा मे भी प्रयाण हो सकेगा।

## ७०. जैन-समाज सोचे

युग में नव-जागरण आया है। इस जागरण के युग में जैन-समाज में भी जागृति आई है। यह तो मैं नही कह सकता कि जागृति ने सक्रिय रूप धारण किया है, पर आई अवश्य है, ऐसा कहने में कोई कठिनाई नही है। इसके फलस्वरूप जैन-एकता, जैन-दर्शन का प्रचार इत्यादि प्रवृत्तियों की चर्चा चल रही है। फिर भी एक बात यहां आशंका पैदा किये हुये है कि इस समय मे भी अगर जैन के विभिन्न संप्रदायों के लोगो के आपसी संबंध कटुतापूर्ण रहेंगे तो उन प्रवृत्तियो का भविष्य क्या होगा ? दो विरोधी राष्ट्रों के पारस्परिक सबध जब अहिंसा और मैत्री के द्वारा जुड सकते हैं तो क्या जैन-समाज, जो इन तत्त्वो को अपनी देन होने का दावा करता है, आपस में सामंजस्य स्थापित न कर लड़ाई-झगडा करेगा ? जहां तक मेरे प्रयास का सवाल है, मैं इसके लिए सदा सचेष्ट रहा हूं और आज भी हूं कि जैन-संप्रदायो का आपसी मनमुटाव दूर हो।

### मनभेद न हो

इसके लिये अपेक्षित है कि एक सम्प्रदाय दूसरे सम्प्रदाय के प्रति आक्षेपात्मक तरीकों से छीटाकशी न करे। विचार-भेद से तो कलह को अवकाश नही मिलता है पर वह मनभेद और छीटाकशी से उभर जाता है। ऐसी स्थिति में समस्त जैन-संप्रदायों का कर्तव्य है कि ऐसे घृणात्मक कार्य न करें। और जो करें, उनको प्रोत्साहन और प्रश्रय न दें।

### महानता कैसे प्राप्त होती है ?

जैन भाइयो से मै यह बात विशेष रूप से कहना चाहूंगा। वे जैन-दर्शन का अध्ययन व अनुशीलन करे। इससे भी बढ़कर जो एक बात जोर देकर कहनी है वह यह है कि वे अपने आचरणों को सुधारें। केवल दर्शन की महानता से कोई महान् नहीं बनता। महानता महान् दर्शन के महान् सिद्धांतो को जीवन के व्यवहार और आचरण मे ढालने से प्राप्त होती है। अपेक्षा है, जैन लोग महावीर द्वारा बताए गए अहिंसा, संयम, त्याग, सच्चरित्र के मार्ग पर चलकर अपने जीवन को संवारें।

# ७१. मानव-समाज की मूल पूंजी

आज के मानव-समाज की ओर नजर उठाता हूं तो ऐसा अनुभव होता है कि समस्याओं की वाढ़-सी आ रही है। रोटी और जीवन-निर्वाह के आवश्यक साधनो का प्रश्न वड़ा जटिल बन रहा है। शिक्षा-क्षेत्र की अनेक तरह की समस्याएं हैं। सामाजिक जीवन की अपनी ढेर-सारी समस्याएं हैं। मानसिक अशांति की समस्या तो इतनी व्यापक है कि शायद ही कोई वर्ग इससे अछूता हो। पर इन सबसे भी गंभीर समस्या है दिन-प्रतिदिन हो रही चारित्रिक गिरावट की स्थिति। और मैं तो ऐसा मानता हूं कि यह समस्या ही बहुत-सारी समस्याओं की जननी है। समझ मे नही आता कि मानव अपने ही हाथो अपने को समस्याओ के जाल मे क्यो फंसा रहा है? क्यो नही वह इस ओर ध्यान देता? उसे यह बात बहुत गंभीरतापूर्वक समझने की है कि चरित्र ही मानव-जीवन की मूल पूंजी है। यदि उसने वह खो दी तो मानना चाहिए कि उसने सर्वस्व खो दिया। वह बिलकुल खाली हो गया। उसके जीवन की कोई सार्थकता शेष नही रही। भारतीय संस्कृति मे चरित्र को सबसे बड़ा जीवन-मूल्य माना गया है। इस मूल्य के कारण ही भारत प्राचीन समय में चरित्र के क्षेत्र में सबसे आगे रहा। संसार भर के लोग चरित्र की शिक्षा ग्रहण करने के लिए यहा आया करते थे। भारतीय लोगो को पुनः अपने इस गौरव को प्राप्त करना है। इस गौरव को प्राप्त करके ही वे ससार में अपना मस्तक ऊंचा करके जी सकेगे।

कुर्ला (वम्बई)
७ दिसम्बर १९५४

## ७२. सफलता के साधन

खाने-पीने, उठने-बैठने और सुख-दुःख की अनुभूति करनेवाले सभी प्राणी जीते हैं। पर सबका जीना सफल नही कहा जा सकता। फिर सफलता की परिभाषा भी सबकी एक नही होती। व्यक्ति जिस चीज की कामना करता है, वह उसे मिल जाए, इसी को वह सफलता मान बैठता है। धन का इच्छुक धन मिल जाने को जीवन की सफलता मानता है तो पुत्र का इच्छुक पुत्र-प्राप्ति को। भोग-परिभोग को चाहनेवाला भोग-परिभोग की प्राप्ति को सफलता समझता है। उसका चिन्तन उससे आगे बढ़ने की स्थिति मे नही रहता। भारतीय विचारधारा मे जीवन की सफलता और सम्पन्नता का आधार भौतिक पदार्थों का विकास नही है। उसके अनुसार जब तक आत्मा का विकास नही होता, जीवन मे सदाचार और संयम नही आता, तब तक जीवन की सफलता नही है। भौतिक पदार्थों की बहुलता ही अगर जीवन की सफलता होती तो न कोई संयम-मार्ग को अपनाता और न कोई संयमी को मस्तक नमाता। भौतिक सुख-सुविधाओं मे पलनेवालों को जब उनमें सुख-शांति का भान नहीं हुआ, तब वे त्याग-मार्ग की ओर झुके। वास्तव में सुख और शांति का मार्ग त्याग ही है। उसके अभाव में जो जीवन बिता रहे हैं, उनके मुंह पर आज भी शांति की चर्चाए और योजनाएं तो हैं, किंतु उसकी अनुभूति नही है। देर-सवेर उन्हे इस अकाट्य सिद्धांत को मानना ही होगा कि त्याग के बिना सुख और शांति की प्राप्ति नही हो सकती।

### जीवन की सार्थकता

भौतिक जीवन मे पलनेवालो को भोग-विलास को छोड़ त्यागी बनने की बातें सुनने मे अटपटी जैसी लगेगी। किंतु कौन नही जानता कि त्याग के मार्ग की उपेक्षा ने व्यक्ति को कितना अशांत और उद्विग्न बना दिया है। मानव चाहे कितना भी भौतिक सुख-सुविधा-सम्पन्न क्यों न हो जाए, फिर भी उसे सुख कहां। शांति कहा। सुख-शांति पाने की बात केवल भ्रांति है। और यह भ्रांति ही उसे विलास का पल्ला छोड़ने नही देती। इस भ्रांति को मिटा त्याग-पथ पर विश्वास जमाने की आवश्यकता है। अगर व्यक्ति

विश्वास जमाकर सदाचार और संयम में प्रवृत्त होगा तो निस्संदेह ही उसके जीवन की सफलता और सार्थकता होगी।

कुर्ला (वम्बई)
७ दिसम्बर १९५४

# ७३. प्रकृति बनाम विकृति

प्रकृति को छोड़ विकृति में जाना दु:ख का हेतु है, अधर्म है। पशु-पक्षियो से भी ज्यादा मनुष्य-समाज रोगो का शिकार है। कारण यही है कि पशु-पक्षी आज भी अपनी प्रकृति के अनुकूल आचरण करते हैं और अपने आचरण में वे प्रकृति का उल्लंघन कभी नही करते। आचार, व्यवहार और स्वाभाविकता के उल्लंघन के कारण मानव-समाज दु.खी और क्लान्त है। मानव-समाज ने जब से मर्यादा का अतिक्रमण करना शुरू किया है, तभी से रोग, दु:ख, अशांति इत्यादि तत्त्व निरन्तर उसके चारो ओर घेरा डालते जा रहे हैं।

मानव-समाज विकारो को छोड़ आचार में आए, खान-पान और रहन-सहन की विकृतियों को सुधारे, तभी वह इस स्थिति से अपना पिण्ड छुड़ा सकता है, शांति और सुख की सांस ले सकता है, सही अर्थ में मानव बन सकता है।

रोग का मूल कारण पदार्थों के प्रति तीव्र आसक्ति है। इस आसक्ति के कारण वह पदार्थों के भोग की कोई मर्यादा नही रख पाता। अपेक्षा है, मनुष्य के जीवन में मर्यादा का सूत्र आए। स्वस्थ जीवन जीने के इच्छुक व्यक्तियों को इस तथ्य पर ध्यान देकर गहराई से मनन करने की आवश्यकता है।

बम्बई
८ दिसम्बर १९५४

## ७४. अहिंसा का आचरण

विश्व में हुए गत दो महायुद्धों और शस्त्रों की स्पर्धा ने मानव-समाज को अपने भविष्य की ओर से सशंकित कर दिया है। अणुबमों का निर्माण और वैसे अस्त्र-शस्त्रो के लिए विश्व मे चल रही प्रतियोगिता यदि ऐसे ही चलती रही तो मानव-जाति अपने अस्तित्व के लिए खतरा पैदा कर लेगी। आखिर इन अस्त्र-शस्त्रो की तैयारी का कारण क्या है ? हालाकि रक्षा और शाति के लिए इनके निर्माण की बात कही जाती है, पर असलियत कुछ और ही है। मानव-समाज उनके परिणामों को भुगत चुका है। स्पष्ट है कि उनके निर्माण के पीछे बड़ा बनने का और सब पर प्रभुत्व जमाने का व्यामोह है। पर इतने पर भी उनकी अन्तरात्मा रो रही है। युद्धो द्वारा विध्वंस, मानव-जाति का विनाश ! और इतनी बड़ी कीमत चुकाने पर भी अशाति ! यह स्थिति उनके निर्माताओ और राष्ट्रो के नेतृवर्ग को यह सोचने के लिए प्रेरित करती है कि युद्धो और शस्त्रास्त्रो के निर्माण से शांति नही होगी। अहिंसा क्या कर सकती है ? हिंसा से कितना विनाश हो सकता है ?—इन दो प्रश्नो मे से दूसरे प्रश्न का उत्तर तो मिल ही चुका है। अब केवल पहला प्रश्न बचा है, जिसका विशेष रूप से उत्तर मागा जा रहा है।

### निर्माण की योजना : अणुव्रत आंदोलन

अणुव्रत आदोलन अहिंसात्मक आंदोलन है। वह और कुछ नही, सिर्फ निर्माण कर सकता है। कैसा निर्माण ? विध्वंसात्मक शस्त्रों का नहीं, चरित्र और सदाचार का निर्माण, जिसकी कि आज सबसे अधिक आवश्यकता है। विनाश की वेला अब बीत चुकी है। चारो ओर शांति की मांग है और इसका एकमात्र समाधान अहिंसा का आचरण ही है। व्यक्ति अहिंसा के प्रति निष्ठावान् बने। दूसरे शब्दो मे व्यक्ति अपने प्रति निष्ठावान् बने, यही अणुव्रत का मूलभूत उद्देश्य है। मैं राष्ट्र के प्रत्येक नागरिक से यह कहना चाहूंगा कि वह अणुव्रत आंदोलन को अपनाए और अपने जीवन से यह दिखा दे कि अहिंसामय आचरण से मानव-जीवन मे विकास की कितनी सभावनाएं

अन्तर्निहित हैं और वह वैयक्तिक जीवन तथा समाज के वातावरण को कितना समुज्ज्वल बना सकता है।

बम्बई
९ दिसम्बर १९५४

# ७५. मानव-जीवन की सफलता

मानव संसार के अन्य प्राणियों की तुलना मे उत्कृष्ट माना जाता है। क्यो ? इस 'क्यों' का उत्तर है—विवेक। अत: उसके जीवन की अर्थवत्ता इसी मे है कि वह अपने विवेक का सदुपयोग करे। वस्तु-तत्त्व को यथार्थ रूप मे जाने, जानकर उसे जीवन मे उतारे। पर खेद है, मानव इस तत्त्व को भूल-सा गया है। केवल ऐहिक सुखोपलब्धि के लिए वह इस कदर पिल पड़ता है कि आत्मत्व के प्रति उसकी निगाह तक नही जाती। आज के मानव की वृत्तियों को देखें तो पता चलेगा कि धन-लुब्धता में फंस कर वह अपने पुत्र-पुत्रियों तक को वेचते हुए भी नही सकुचाता। जीवन-व्यवहार के अन्यान्य क्षेत्रो मे भी वह गिरावट की तरफ ही जा रहा है। मास और मद्य जैसे अभक्ष्य और अपेय पदार्थों के सेवन मे उसकी आसक्ति बढ़ती जा रही है। सच है, विवेक-भ्रष्ट होने पर मनुष्य का यह शतमुखी पतन होता है। अपेक्षा है, मानव अपनी ओर निहारे, अन्तरतम का पर्यवेक्षण करे। अर्थलोलुपता, अशुद्ध खान-पान, अनैतिक व्यवहार आदि दुष्प्रवृत्तियों से मुह मोड़कर जीवन-परिष्कृति में लगे। त्याग, संयम, समता, संतोष, आत्म-तृप्ति आदि का संग्रहण करे। इसी मे मानव-जीवन की सफलता है।

कुर्ला (वम्वई)
१२ दिसम्वर १९५४

# ७६. व्यापारी स्वयं को बदलें

आज समग्र लोक-जीवन बेईमानी और अनीति से अभिभूत है। लोगों की मनोवृत्ति आज कुछ ऐसी बन गई है कि उनका न्याय, नीति और सच्चर्या की सार्थकता के प्रति विश्वास डगमगाता-सा जा रहा है। व्यापारी लोग भी इससे बचे नही है। उनकी यह अवधारणा बन गई है कि ईमानदारी और सचाई से व्यापार चल ही नहीं सकता। पर मैं उन्हे कहना चाहता हूं कि यह केवल उनका भ्रम है। दृढ़ता के साथ इस भ्रम को निकाल फेंकना ही इसका एकमात्र उपाय है।

## आपसी व्यवहार और सचाई

कुछ दुकानदार अपनी दुकानो पर सूचनाएं टांगते हैं कि उनके यहां माल मे मिलावट नही की जाती, व्यवसाय मे सचाई बरती जाती है। यह सब क्यों ? यदि ईमानदारी और सचाई से व्यापार चलने के प्रति उनके मन मे निष्ठा ही नही है तो वे ऐसा क्यो करते हैं ? उनकी यह प्रवृत्ति स्पष्ट बताती है कि वे मन मे तो यही मानते हैं कि पारस्परिक विश्वास सचाई पर आश्रित है। विश्वास आपसी व्यवहार का मूल है। व्यापारी भाइयों से मेरा यही कहना है कि वे अपने मन मे यह जमा लें कि उनको अपने व्यवसाय मे अधिकाधिक सचाई, नीति, न्याय और ईमानदारी का उपयोग करना है। ये जीवन-शोधन के साधन तो हैं ही, साथ ही जनता मे उनके प्रति विश्वास व सद्भाव भी पैदा करेंगे। मैं कतिपय ऐसे व्यापारी भाइयों को जानता हूं, जिन्होने अणुव्रत के नियम ग्रहण करने के बाद यह अनुभव किया कि उनके प्रति लोगों के मन मे अधिकाधिक विश्वास जमता जा रहा है और उनकी साख दिन-पर-दिन मजबूत होती जा रही है

## बदलता युग-प्रवाह

युग बदल रहा है। सामाजिक और आर्थिक व्यवस्थाओ में एक क्रांति मच रही है। दिन-पर-दिन नए-नए कर लगते जा रहे हैं। शायद अब पूंजीवादी परम्परा अपने स्वरूप को अक्षुण्ण नही रख सके, टिक नही सके। ऐसे प्रतिकूल वातावरण को देखते हुए भी यदि व्यापारी नही बदले तो उनकी इससे बड़ी भूल और क्या होगी। युग का प्रवाह किसी के रोके नहीं

रुकता। तब क्या व्यापारी उससे अछूते रह पायेंगे। मैं इस बात को दोहराऊंगा कि व्यापारी-बन्धु लोभ और तृष्णा को संयत करते हुए सत्य, सदाचार और नैतिकता के प्रति निष्ठाशील बनें, जीवन-व्यवहार मे इनका उपयोग करें।

कुर्ला (बम्बई)
१६ दिसम्बर १९५४

## ७७. उपासना का मूल्य

यद्यपि साधक प्रत्यक्ष मे तो वीतराग भगवान की उपासना करता है, परन्तु प्रकारान्तर से वह अपनी आत्मा की ही उपासना करता है। वीतराग-उपासना से उसकी आत्मा मे वीतरागता पनपती है, विकसित होती है, प्रगाढ़ बनती है। इस दृष्टि से वीतराग-पूजा साधक के लिये परम आधार है, इहलोक-परलोक दोनों के लिये पावन पाथेय है।

### प्रार्थना का तात्पर्य

जैन-दर्शन आत्मवादी दर्शन है। आत्म-स्वरूप की प्राप्ति उसका लक्ष्य है। आत्मगुण-उपासना, आत्मा पर लगे कर्मावरण का अपवर्तन उसके परिष्करण का साधन है। असत्प्रवृत्तियो से हटता-हटता साधक ज्यों-ज्यों सत्प्रवृत्तियों की ओर जाता है, त्यो-त्यो उसमे आत्म-उन्मुखता और पर-पराङ्मुखता आती जाती है। भगवत्प्रार्थना आत्म-उन्मुखता मे साहाय्यभूत है। प्रार्थना का तात्पर्य है—बन्धनमुक्त, निर्विकार, वीतराग, मोक्षगत आत्मा के गुणों का संस्मरण-संस्तवन। इससे साधक आत्म-सम्मार्जन की प्रेरणा पाता है, 'स्व' की ओर मुड़ता है। उसमें वीतराग-भाव और निर्विकार वृत्ति की स्फुरणा होती है। दूसरे शब्दो में आत्म-विकास की पगडडी पर चलने वालों के लिए प्रार्थना एक पावन पाथेय है, संबल है। साधना में आगे बढ़ने मे साधक के लिए यह एक बड़ा सहारा है, क्योंकि साधक का लक्ष्य भी तो वीतरागत्व प्राप्ति ही है। वीतराग उसका आदर्श है और वीतरागता साधन। अत: वीतरागता के साधक द्वारा होनेवाली वीतराग-प्रार्थना, वीतरागोपासना, वीतराग-पूजा वीतरागता की प्राप्ति के लिये ही होनी चाहिए।

कुर्ला (बम्बई)
१६ दिसम्बर १९५४

# ७८. युग और धर्म

धर्म जीवन का सारभूत तत्त्व है। पर आज उन लोगो की, जो बुद्धि-वादी हैं, विज्ञान मे विश्वास रखने वाले हैं, धर्म के प्रति निष्ठा न्यूनातिन्यून होती जा रही है। शैक्षणिक और वौद्धिक क्षेत्र के विद्यार्थियो तथा नौजवानो को यह कह कर कोसा जाता है कि उनमे नास्तिकपन पनपता जा रहा है। पर गहराई से देखा जाए तो एकमात्र उनकी मनोवृत्ति ही इसका कारण नही है। यद्यपि वे दूध के धोये हैं, सर्वथा निर्दोष हैं, ऐसी वात तो मैं नही मानता, पर साथ-ही-साथ धार्मिक लोगो को भी अपने अन्तरतम को टटोलना होगा। वे भी जरा गम्भीरता से अपने-आपमे डुवकी लगावे और देखे—कही उनमे ही तो धर्म के नाम पर जडता घर नही करती जा रही है ? धर्म, जो जुदे-जुदे व्यक्तियो को सुई की तरह मैत्री, सौजन्य और समता के धागे द्वारा जोडने का साधन है, कही विद्वेप और विपमता के द्वारा कैंची की तरह कतर तो नही रहा है ? व्यक्ति-व्यक्ति मे अलगाव और पार्थक्य तो पैदा नही कर रहा है ? यदि ऐसा होता है तो कहना होगा कि उन्होने केवल धर्म का वाना पहन रखा है, वास्तव मे तो उनके अन्तर् मे अधर्म अड्डा जमाये वैठा है।

## शिक्षा-प्रणाली संतुलित हो

यह स्पष्ट हो चुका है कि आज की शिक्षा-प्रणाली से शिक्षार्थियो के जीवन का समुचित रूप मे निर्माण नही हो रहा है। यह मैं ही नही कहता हूं, वल्कि इस विशाल राष्ट्र के वडे-वडे नेता एवं शिक्षाशास्त्री भी ऐसा ही कह रहे हैं। शिक्षा जीवन का आधार है। पर कलुपित व सडी-गली वुनियाद पर टिकनेवाली इमारत क्या कभी दृढ़ व सुन्दर हो सकती है। आज शिक्षा का माध्यम एकमात्र भौतिक विकास रह गया है। जीवन के अध्यात्म पक्ष की, जो कि सवसे अधिक आवश्यक और महत्त्वपूर्ण पक्ष है, अवहेलना-सी होती जा रही है। परिणामत आज का शिक्षित मानस जडता के प्रवाह मे वहा जा रहा है।

भारतीय समाज की परम्परा, सस्कृति, जीवन-चर्या, व्यवहार-पद्धति सव-कुछ अध्यात्म-सवलित रही है। तभी तो इसका अतीत विश्व के लिए आदरणीय था। समुद्र-पार के लोगों को भी वह अपनी और खीचता

था। लेकिन आज वह अध्यात्म-परम्परा भुलाई जा रही है। फलतः भारत जैसा अमर संस्कृति व सभ्यता का देश अनीति और नास्तिकपन के वहाव में विना रुके वहता चला जा रहा है। यदि इस पर रोक नही लगाई गई तो वह वहाव उसे कहां ले जाकर छोड़ेगा, यह कहने-सुनने की कोई वात नही। इसके लिये सवसे अधिक आवश्यकता इस वात की है कि शिक्षा-प्रणाली में आध्यात्मिकता, नैतिकता, संयतता, सदाचारिता और शालीनता का समावेश हो। शिक्षार्थियों को केवल पुस्तकीय ज्ञान देकर ही शिक्षा की इतिकर्तव्यता नही मान लेनी चाहिये। शिक्षा का मुख्य लक्ष्य तो उनके जीवन को संयमित, सुशासित, व्यवस्थित एवं नियमित वनाना है। ऐसा होने से ही शिक्षा की सार्थकता है।

## धर्मगुरु नया मोड़ लें

धर्मगुरुओ और धर्मनेताओं को भी आज के इस करवट वदलते हुए युग को निहारना होगा। स्थितिपालकता और परम्परा के पोपण को छोड आज उन्हें धर्म की सही चेतना का मानव-मानव में संचार करना होगा, ताकि अध्यात्म-ज्योति के वे सजीव स्फुलिग वन सके। वे स्फुलिग, जो मानव की सुषुप्त चेतना मे जीवन और जागरण भर सकें। धर्माधिकारियों को आज अनिरुद्ध आगे वढ़ते हुए भौतिकवाद के खिलाफ प्रवल वगावत करनी होगी। लोगो को वताना होगा कि एक निश्चित अवधि के लिए मन्दिर, धर्म-स्थान व साधु-सम्पर्क मे आने मात्र से ही उनकी धर्मोपासना की सफलता नही है, उन्हें अपने दैनंदिन जीवन मे सत्य, संतोप, ईमानदारी जैसे तत्त्वों को सन्निहित करना होगा। तभी उनकी धर्मोपासना की सच्ची सफलता है।

## दान : सहयोग

भारत एक धार्मिक देश कहा जाता है, पर कितनी विडम्वना है कि आज उस धर्म की यहां दयनीय दशा हो रही है! शोषण, अनाचार और कालावाजार से धन संग्रह कर, किसी भूखे को रोटी का टुकडा दे दिया, प्यासे को पानी पिला दिया और मान वैठे कि वहुत वड़ा पुण्य कमा लिया! क्या इस तरह पुण्यार्जन के वहाने लोग आत्म-विडम्वना नही कर रहे हैं। राष्ट्र मे भिखमंगों की परम्परा को और ज्यादा मजवूत नही वन वना रहे हैं। क्या एक आजाद देश के लिये यह शोभास्पद है कि वहां एक भाई तो ऐश-आराम और वैभव-विलास के साथ गुलछर्रे उड़ाये और दूसरा भाई वासी व सूखी रोटी के टुकडे को चवा उसे पुण्यभागी वनाये। चीन को आजाद हुये लम्वा समय नही गुजरा। वहां जाकर आनेवाले लोग वताते हैं कि वहां एक भी भिखारी नही है। हमारे देश के तथाकथित पुण्यात्मा भाई

## ७९. स्वस्थ समाज की रचना

आज मानव दोहरी जिन्दगी जी रहा है। वह मन्दिर में जाता है, तब मानो उसमे मूर्तिमती धार्मिकता जाग पड़ती है। परन्तु ज्यो ही धर्मस्थान को छोडकर वह बाहर आता है, वह एकदम सुप्त हो जाती है। यदि वह बनिया है तो उसके दिमाग मे केवल वह बात शेष रहती है कि वह एक व्यापारी है। उसके लिए अर्थ पैदा करने के अतिरिक्त और कोई धर्म नहीं है। धर्म-स्थान का उपास्य-भाव मानो कभी उसके दिमाग मे रहा ही न हो—ऐसी स्थिति बन जाती है। राज्यकर्मचारी अपने कार्यालय मे पहुंचता है। वह क्यो याद करने लगा कि कर्मचारीपन की सारवत्ता इसी में नही है कि रिश्वत द्वारा पैसा ऐठा जाए या उसे अपना जन्मजात अधिकार समझ बैठे। इसी तरह आज का जन-जीवन विडम्बना में घुला जा रहा है। जीवन से सही मूल्यो के प्रति मानव मे निष्ठा रह नही गई है। दिखावे के लिए शोषण और जुल्म से पैदा किए गए पैसे मे से चन्द कोड़ियां भिखमंगो के बीच फेक वह पुण्यात्मा और धार्मिक बनने का स्वांग रचना है। वह अपने अन्तर् को नही टटोलता कि उसके जुल्मो की चक्की के नीचे पिसे हुई कितने शोषित जनो के निर्मम क्रन्दन की बुनियाद पर उसका यह तथाकथित दान-पुण्य टिका हुआ है। इसलिए इस बात की नितांत अपेक्षा है कि व्यक्ति शोषण को छोडे, लालसाओ को सयमित करे, भोग को जीवन का लक्ष्य न मान त्याग के आदर्श पर चले। उसके रोजमर्रा के काम और जीवन का दैनिक व्यवहार सचाई पर अधिष्ठित हो। अणुव्रत आंदोलन इसी पृष्ठभूमि पर व्यक्ति-निर्माण का कार्य कर रहा है।

### सरलता और कठिनता सापेक्ष है

आंदोलन के नियम अपेक्षा-भेद से छोटे भी कहे जा सकते हैं और बडे भी। न्याय और नीति पर चलने वाले किसी कर्मचारी से कहा जाए कि तुम रिश्वत मत लो तो सहसा वह कह उठेगा—मानव कहलाने वाले के लिए क्या यह भी कोई ग्राह्य वस्तु है! इसी तरह एक ईमानदार व्यापारी से कहा जाये कि कलाबाजार मत करो, झूठा तौल-माप मत करो तो क्या

उसका मन घृणा से नहीं भर उठेगा—व्यापार में इतना कालुष्य सहन करने की बात है ! यदि ये ही बातें दूसरी तरफ उन लोगों से कही जाएं, जो येन-केन-प्रकारेण न्याय-अन्याय, उचित-अनुचित सभी तरह से पैसा इकट्ठा करने के लिए कमर कसे बैठे हैं, तो वे फौरन कह उठेंगे—आज के युग में भला कालाबाजार के बिना कहीं काम चल सकता है। ऐसा न करें तो हम और हमारे घरवाले खाएं क्या ...... । कर्मचारी कहेंगे—रिश्वत न लें तो सरकार से मिलने वाले वेतन के सहारे हम और हमारे घरवाले फांका न मारें.... .. । आप जरा सोचें—सरलता और कठिनता दोनो व्यक्ति के भावो पर हैं, उसकी दृढ़ता पर हैं। अतः मैं कहूंगा—परिस्थितियों और वातावरण की दुहाई न देते हुए व्यक्ति को आज अपनी मनोवृत्ति मे दृढ़ता का समावेश करना होगा। हो सकता है, उसके मार्ग में कठिनाइयां आएं, असुविधाएं आएं, पर आत्मबल और सत्यनिष्ठा के सहारे उनसे लड़ते हुए उसे अपने पथ पर बढना होगा। अणुव्रत आंदोलन उसे मार्ग देगा, जीवन की दिशा दिखाएगा।

क्या मंत्रीगण, क्या राज्यकर्मचारी, क्या व्यापारी, क्या विद्यार्थी, क्या किसान व क्या मजदूर सब इस आध्यात्मिकता व नैतिकता के राजमार्ग पर आएं, स्वयं आगे बढ़ें, दूसरों को आगे बढ़ने में सहयोग दें। तभी एक स्वस्थ समाज के निर्माण की दिशा मे युग का प्रयाण हो सकेगा।

## ८०. सादा जीवन : उच्च विचार

### पतन की पराकाष्ठा

भारत के प्राचीन इतिहास को हम टटोलें तो पाएंगे कि यहा वैभव और धन का महत्त्व नही रहा, सत्ता के सामने व्यक्ति कभी नही झुका। वह झुका है तो योग, संयम और साधना के सम्मुख। किंतु आज स्थिति बदल चुकी है। भोगवादी संस्कृति के प्रभाव के कारण भारतीय जन-मानस भी परिग्रह, पूंजी और वैभव की चकमक मे इतना गुमराह हो गया है कि इनके अतिरिक्त उसे कुछ सूझ ही नही पड़ रहा है। पैसे की रटन लगाता हुआ वह मानो अपने-आपको भी भूलता जा रहा है। यह आत्म-पतन की पराकाष्ठा है। यदि इस मनोवृत्ति का परित्याग भारतीयों ने नही किया तो कुछ कहा नही जा सकता कि पतन के कितने गहरे गर्त मे वे जा गिरेंगे। उन्हे यह समझ लेना है—धन जीवन का साध्य नही है। उसे अपना चरम ध्येय समझ सर्वतोभावेन उसके पीछे पड़ वे एक भयंकर भूल कर रहे हैं। जीवन का साध्य है—आत्मा का परिशोधन, वृत्तियो का परिष्करण, भावनाओं का समीकरण। यह तभी सभव होगा, जब जीवन में सादगी, सरलता, सात्विकता और संतोष का समावेश होगा।

### विकास या ह्रास ?

आज का मानव कहता है कि उसने विकास किया है, तरह-तरह के यान, वाहन तथा अन्यान्य जीवनोपयोगी वस्तुएं तैयार की हैं। पर जरा गहराई से सोचे कि इस विकास की आड़ मे मानव ने क्या अपनी शक्तियो का ह्रास नही किया है ? ज्यो-ज्यो मानव प्रकृति से विकृति की ओर गया, त्यो-त्यो उसने अपनी शक्तियो से हाथ धोया। कुछ ही समय पहले तक गांव के किसान पन्द्रह-बीस मील एक दिन मे पैदल चल लेते थे। पर आज अगर दो मील भी जाना होता है तो घण्टो बस का इन्तजार करेंगे। इसी प्रकार जिधर देखे, इस तथाकथित विकास के पर्दे के पीछे ह्रास ही नजर आयेगा। सही बात तो यह है कि जीवन मे जितनी कृत्रिमता आयेगी, वह उतना ही बोझिल बनेगा। भले कोई उसे विकास कहे, पर वास्तव में बोझिल जीवन कभी सुखी नही हो सकता।

# ८१. जीवन-सुधार की योजना

लोगों का जीवन-व्यवहार आज बुराइयों और कलुषित वृत्तियों से दिन-पर-दिन विकृत बनता जा रहा है । स्वार्थपरायणता इतनी अधिक फैलती जा रही है कि अपने थोड़े-से लाभ के लिये व्यक्ति दूसरे का बड़े-से-बड़ा नुकसान करते नहीं हिचकिचाता । लोग पैसे को जीवन का चरम लक्ष्य मान बैठे हैं । उसका नतीजा हमारे सामने है । संघर्ष, झगड़ा, असंतोष, पारस्परिक अविश्वास आदि से लोगों का जीवन दिन-पर-दिन कलुषित हो रहा है, दुःखी व संत्रस्त हो रहा है । ईमानदारी, सचाई, नैतिकता आदि, जो मानवता के सहज गुण हैं, आज मिटते जा रहे हैं । उनके स्थान पर बेईमानी, असत्य, अनैतिकता जैसे तत्त्व पनप रहे हैं । जीवन सत्वहीन और खोखला बनता जा रहा है ।

लोक-जीवन से बुराइयां मिटें, मानव सही माने मे मानव बने, सदाचरण, सद्वृत्ति उसके जीवन में आये—इस लक्ष्य को लेकर हमने अणुव्रत आंदोलन का प्रवर्तन किया । अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, जिन्हे जैन-दर्शन मे पांच महाव्रत, योगदर्शन में पांच यम और बौद्ध-दर्शन में पंचशील के नाम से बताया गया है, उनके आधार पर जन-जीवन को छूने वाले छोटे-छोटे नियमों की रचना की गई है । नियम बनाते समय व्यापारी, राज्य-कर्मचारी, वकील, अध्यापक, विद्यार्थी आदि समाज के विभिन्न वर्गों को मद्देनजर रखा गया है । उनके जीवन में जो बुराइयां आज घर करती जा रही हैं, उन्हें ध्यान में रखा गया है, ताकि उन बुराइयो पर सीधी चोट हो सके और समाज के समस्त वर्गो को सत्प्रवृत्तियों की ओर मोड़ा जा सके ।

व्यापारियों के लिये कालाबाजार, झूठा तौल-माप, असली के बदले में नकली वस्तु देना आदि का वर्जन है । राज्य-कर्मचारियों के लिये रिश्वत लेने का निषेध है । इसी प्रकार वकीलो के लिए झूठा मुकदमा लेने का वर्जन है । वकील इसे अपना ले तो मैं तो समझता हूं कि मुकदमेबाजी का रोग, जिससे कि आज समाज का अंग-अंग जर्जरित है, बहुत कुछ दूर हो सकता है । समाज के व्यक्तियो के पारस्परिक सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण बन सकते हैं । इसी तरह समाज के अन्यान्य वर्गो के लोग भी अणुव्रत-नियमो को अपनाये तो

## ८२. सुख-शांति का पथ

### धर्म क्या है ?

आज का मानव विज्ञान और राजनीति की बातें सुनने को बड़ा उत्सुक है, तत्पर है। पर धर्म और चारित्र की बातें सुनने के प्रति उसकी अभिरुचि क्षीण और क्षीणतर होती जा रही है। ध्वस की बातों मे वह रस लेता है, पर निर्माण की बाते उसे नीरस-सी लगती है। इस मनोदशा को बदलना होगा। धर्म ध्वंस नहीं, निर्माण की दिशा देता है। निर्माण ही तो जीवन की सच्ची शक्ति, स्फूर्ति, सौदर्य और सौष्ठव है। कुछ लोग सोचते हैं—व्यावहारिक जीवन में धर्म से हमें क्या मिलता है ? क्या वह हमें नई खुराक देता है, जिससे कि जीवन-क्षेत्र मे आगे बढ़ने मे हम ताजगी और स्फुरणा संजो सकें ? वे जरा गहराई से मनन करे—धर्म की आराधना, अनुसरण, अनुशीलन और अनुपालन से जीवन में जो शांति, उल्लास और आह्लाद मिलता है, वह न तो सम्राट् बनने में है और न कुबेर बनने मे। सक्षेप में धर्म की व्याख्या है—आत्म-शुद्धि, जीवन की सजावट, अन्तर्तम की सुसज्जा, जीवन-व्यवहार की शालीनता का साधन। धर्म सच्चा प्रेम सिखाता है। समता, मैत्री और शुद्ध स्नेह के धागे मे सबको पिरोता है। वहां भेद-भाव कैसा। वह तो ऐक्य की पावन सुरसरी है। जो धर्म मानव-मानव को परस्पर लड़ाता है, विद्वेष और वैमनस्य फैलाता है, उसे धर्म कौन कहेगा। वह तो मूर्तिमान् पाप है, अधर्म है, अन्याय है। किस बेहूदे आदमी ने उसका नाम 'धर्म' रख दिया। वह तो धर्म की विडम्बना है, धर्म के नाम पर कलंक का काला टीका है। जो व्यक्ति धर्म के नाम पर शोषण करते हैं, लोगों का खून चूसते हैं, अपनी जेबें भरते हैं, विद्रोह और घृणा की भावना फैलाते है, वे धर्म को कलंकित करने वाले हैं, गद्दार हैं। युग उन्हे चुनौती दे रहा है। वे इस सत्य को समझे, आत्म-आलोड़न करे। इस अधर्म के जामे को उतार फेके और धर्म की सच्ची आराधना करे। उस आराधना का स्वरूप होगा—जीवन में त्याग-भावना की अभिवृद्धि, समता का संचार, सौहार्द की उत्पत्ति मैत्री-भावना का विकास, जीवन-व्यवहार का परिशोधन।

## जैन लोग आत्मालोचन करें

भगवान महावीर ने जगत् को अहिंसा का महत्त्वपूर्ण पाठ पढ़ाया। बाह्य उत्पीड़न और ताड़ना कोई किसी की न करे, यह तो उन्होने कहा ही, किसी के मनोभावो को भी चोट न पहुंचाई जाये, क्लेश पैदा न किया जाये, यह भी उनकी शिक्षा थी। अहिंसा का जो सूक्ष्म विवेचन उन्होने किया, वह वास्तव मे अनूठा है! पर खेद का विषय यह है कि आज भगवान महावीर के अनुयायी जैन लोगो के जीवन में आन्तरिक कलह, आपसी झगडे, एक-दूसरे को नीचे गिराने की कलुषित भावना, मिथ्यारोपण जैसी दुष्प्रवृत्तियां देखने में आ रही हैं। मैं पूछना चाहता हूं, क्या वे अपने उपास्यदेव और उनके महान् सिद्धांतो का उपहास नही कर रहे हैं? पानी छानकर पीने, अष्टमी और चतुर्दशी को हरी वनस्पति न खाने तक ही उन्होने आज अहिंसा का सीमाकरण कर लिया है। मनुष्यो का खून चूसते, लूटते, धोखा देते उनके सिर पर जू तक नही रेंगती! क्या यही अहिंसा उन्होने भगवान महावीर से सीखी? भगवान महावीर ने परिग्रह को बन्धन कहा, धन को आत्म-तृप्ति का बाधक तत्त्व बताया। पर खेद है, अपने को अपरिग्रह के आदर्श के अनुगामी कहने वाले जैन भी कालाबाजार जैसे पातकी कृत्यों से नही बचते! क्या उनके गौरवभरे इतिहास का यह मखौल नही है। जब-कभी अजैन लोगों से यह सुनता हूं कि पहले जैन कहे जाने वाले व्यक्तियो को तो आप सुधारिये तो मुझे मन-ही-मन खेद होता है। मैं जैन भाइयों से कहूंगा—वे सोचें, समझें और अब चेतें। तुच्छ, स्वार्थी और परिग्रही मनोवृत्ति को छोड़ जीवन को अहिंसा और अपरिग्रह के सांचे मे ढालें।

क्या जैन, और क्या अजैन, मेरा उपदेश तो सबके लिए यही है कि जीवन के विकारो को मिटाकर सात्विक भाव अपनाएं। इसीसे वे सुख-शांति को उपलब्ध हो सकेंगे।

घाटकोपर (बम्बई)
२९ दिसम्बर १९५४

## ८३. आदर्श साधक कौन ?

मानव-जीवन बहुमूल्य जीवन है। इसका चरम ध्येय है—आत्म-स्वरूप की प्राप्ति, आत्मा पर लगे कर्म-आवरणो को दूर हटाकर शाश्वत शाति और आनन्द का साक्षात्कार। जीवन के इस लक्ष्य को पूर्ण करने की भावना रखने वाला साधक दृढ़निष्ठा, आत्मविश्वास और स्थिरप्रज्ञा लिए अपने पथ पर आगे बढ़ता रहता है। पथगत कठिनाइयों, अवरोधो की वह किसी प्रकार की परवाह नही करता।

भगवान महावीर ने साधु की जीवन-चर्या का विश्लेषण करते हुए कहा है, जो नित्य साधना मे लगा रहे, गुरु के इंगित तथा मर्यादा मे चले, योगवान् हो—जप, स्मरण, भजन, आत्म-चिंतन आदि में निरत रहे, तपस्या से आत्मा को उज्ज्वल बनाने मे तत्पर रहे, किसी के प्रति अप्रिय शब्दों का प्रयोग न करे, अनावश्यक भाषी न हो, आत्म-विकास की पगडंडी पर चलने-वाला हो, वह आदर्श साधक है।

हालांकि आदर्श तक सबकी पहुंच नहीं हो सकती, पर उसको लक्ष्य बनाकर उस दिशा में प्रयाण तो हर कोई कर सकता है। यह प्रयाण उसके जीवन को क्रमशः निखार देनेवाला होता है।

थाना
३० दिसम्बर '५४

# परिशिष्ट

# शब्दानुक्रम : विषयानुक्रम

ज्ञ



त



द



ध



न

# नामानुक्रम

**छद्मस्थ**—तीन घात्यकर्म (ज्ञानवरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय) के उदय का नाम छद्म है। छद्म का अर्थ है अज्ञान या केवलज्ञान का अभाव। इस अवस्था मे रहने वाले प्राणी छद्मस्थ कहलाते हैं। प्रथम गुणस्थान से बारहवे गुणस्थान तक के समस्त प्राणी छद्मस्थ हैं। छद्मस्थता केवलज्ञान की बाधक स्थिति है। इस बाधा के दूर दूर हटते ही प्राणी को केवलज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। देखें—केवलज्ञान।

**छद्मस्थता**—देखें—छद्मस्थ।

**तीर्थंकर**—

० धर्मचक्र-प्रवर्तक।

० साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका—इन चार तीर्थो के संस्थापक अथवा द्वादशांगी—प्रवचन रूप तीर्थ के कर्ता।

० चार घनघाती कर्मों का क्षय कर जो केवलज्ञान, केवलदर्शन आदि गुणों को प्राप्त कर लेते हैं तथा आठ प्रातिहार्य आदि विशिष्ट उपलब्धियो के धारक होते हैं, वे ही अर्हत्, अरहंत, जिन या तीर्थंकर कहलाते हैं।

० नमस्कार महामंत्र का प्रथम पद इनके लिए प्रयुक्त है। जीवन की समाप्ति पर वे सिद्धावस्था को प्राप्त हो जाते हैं।

० प्रत्येक उत्सर्पिणी या अवसर्पिणी मे भरतक्षेत्र तथा ऐरावत क्षेत्र में चौवीस तीर्थंकर उत्पन्न होते हैं। ये 'चौवीसी' कहलाते हैं।

० भरतक्षेत्र में वर्तमान चौवीसी के प्रथम तीर्थंकर ऋषभ व अंतिम महावीर थे।

**त्रिकरण**—करण का अर्थ है साधन। मन, वचन और काया—ये तीन करण त्रिकरण हैं।[1]

**त्रियोग**—योग का अर्थ है प्रवृत्ति। स्वयं करना, दूसरे से करवाना और करनेवाले का अनुमोदन करना—ये प्रवृत्ति के तीन प्रकार—त्रियोग हैं।[2]

**द्वादशांगी**—तीर्थंकर की वाणी को साक्षात् सुनकर उसके आधार पर उनके विशिष्ट ज्ञानी शिष्य—गणधर जिन आगमो का संकलन करते है, वे अंग कहलाते हैं। आचारांग, सूत्रकृतांग आदि बारह अंग हैं। इन्हे द्वादशांगी या गणिपिटक कहा जाता है। बारहवें अंग—दृष्टिवाद के विच्छिन्न होने से वर्तमान में ग्यारह अंग-आगम ही उपलब्ध हैं। देखें—तीर्थंकर।

---

१,२. कही-कही योग करण के अर्थ मे और करण योग के अर्थ में भी व्यवहृत होता है।

**निर्जरा**—० तपस्या के द्वारा कर्ममल का विच्छेद होने पर आत्मा की जो उज्ज्वलता होती है, उसे निर्जरा कहते हैं।

० कारण को कार्य मानकर तपस्या को भी निर्जरा कहा गया है। उसके अनशन, ऊनोदरी आदि बारह भेद हैं।

० सकाम और अकाम के रूप मे वह दो प्रकार की भी होती है। जो केवल आत्म-शुद्धि के लक्ष्य से शुद्ध साधनो द्वारा की जाती है, वह सकाम निर्जरा है। जिसमे यह लक्ष्य नही होता है, वह अकाम निर्जरा है।

**पर्युषण**—आध्यात्मिक अनुष्ठान के रूप मे मनाया जानेवाला जैन परम्परा का महापर्व। यह प्रतिवर्ष भाद्रव मास मे होता है।

**पुद्‌गल**—जो द्रव्य स्पर्श, रस गंध और वर्णयुक्त होता है, वह पुद्‌गल है। लोक के सभी मूर्त/दृश्य पदार्थ पुद्‌गल ही हैं। सामान्य भाषा मे उसे भौतिक तत्त्व या जड पदार्थ कहा जाता है। वैज्ञानिक दृष्टि से भी सभी प्रकार की भौतिक ऊर्जा एवं भौतिक पदार्थो का समावेश पुद्‌गल मे होता है।

पुद्‌गल परमाणु और स्कन्ध—दोनों रूप मे होते हैं।

पुद्‌गल शब्द की व्युत्पत्ति 'पूरणगलनधर्मत्वात् पुद्‌गलः' की गई है। जिसका गलन-मिलन का स्वभाव हो, वह पुद्‌गल है।

पुद्‌गल को छोड़कर शेष द्रव्यों में इस गुण का अभाव होता है। पुद्‌गल की अनेक वर्गणाएं हैं, जो जीव के द्वारा ग्रहण की जाती हैं। इनमे कर्मवर्गणा के पुद्‌गल महत्त्वपूर्ण हैं।

**बंध** —० आत्मा द्वारा कर्मों का संग्रहण।

० आत्मा और कर्म-पुद्‌गलो का सम्बन्ध।

बंध के चार प्रकार है—१. प्रकृति २. स्थिति ३. अनुभाग ४. प्रदेश।

**मतिज्ञान**—इन्द्रिय और मन की सहायता से होनेवाला ज्ञान मतिज्ञान है। यह परोक्ष ज्ञान का एक प्रकार है। श्रुतनिश्रित और अश्रुतनिश्रित —इसके दो भेद है। इन दोनो के अवान्तर भेद भी हैं। जाति-स्मृति भी मतिज्ञान का एक भेद है।

**वैमानिक देवलोक**—देवो के वर्गीकरण मे वैमानिक देवो का एक वर्ग है। उनकी आवास-भूमि को विमान कहा जाता है, इसलिए उन्हे वैमानिक देव की अभिधा प्राप्त है। उनकी ये आवास-भूमिया छब्बीस हैं। इस अपेक्षा से छब्बीस वैमानिक देवलोक है। इनकी अवस्थिति ज्योतिषचक्र से असंख्यात योजन ऊपर है। वैमानिक देव-

लोक के देव सर्वाधिक वैभवशाली होते है। इनकी दो कोटिया हैं—कल्पोपन्न और कल्पातीत। कल्पोपन्न में स्वामी-सेवक, छोटा-बड़ा आदि मर्यादाए हैं। कल्पातीत में ऐसी कोई मर्यादा नही है। छब्वीस देवलोक में प्रथम वारह कल्पोपन्न हैं तथा शेप चौदह मे नौ ग्रैवेयक और पांच अनुत्तरविमान हैं।

**मोक्ष**—चेतना का वह चरम स्तर, जहां पूर्व समस्त कर्मों का वन्धन क्षीण हो जाता है और नए वन्धन की प्रक्रिया विलकुल वन्द हो जाती है। इस अवस्था को प्राप्त आत्मा ही परमात्मा कहलाती है। कर्म-मुक्त अवस्था प्राप्त होने से वह जन्म, मरण, जरा, रोग, शोक, दुःख आदि समस्त सासारिक दुविधाओं से सदा-सदा के लिए मुक्त होती है। उसका पुनरवतार नही होता।

कर्म-मुक्त दशा मे आत्मा लोकाग्रस्थित स्थानविशेप में एक समय मे पहुंच जाती है। इसी स्थान को सिद्ध-क्षेत्र कहा जाता है। कभी-कभी इसे भी मोक्ष कहते हैं।

**श्रुतज्ञान**—शब्द, संकेत आदि द्रव्यश्रुत के सहयोग से दूसरो को समझाने में समर्थ ज्ञान को श्रुतज्ञान कहते है। पांच ज्ञानो मे मात्र यही एक ज्ञान इस अर्हता से सम्पन्न है। यद्यपि यह परोक्ष ज्ञान का एक प्रकार है, पर दूसरो को समझाने के लिए केवलज्ञानी तक को इसी का उपयोग करना होता है। अक्षरश्रुत, अनक्षरश्रुत आदि इसके चौदह भेद हैं।

**संवर**—आश्रव का निरोध करनेवाले आत्म-परिणामो को संवर कहते है। देखे—आश्रव।

आश्रव के निरोध से कर्मों के आगमन का सवरण होता है, इसलिए उसे संवर कहा जाता है।

संवर के पांच भेद हैं—१. सम्यक्त्व २. विरति ३. अप्रमाद ४. अकषाय ५. अयोग।

विस्तार में उसके वीस भेद भी वताए गए हैं।

# ग्रन्थ में प्रयुक्त श्लोकों एवं पद्यों की सूचि

# प्रेरक वचन

- व्यक्ति का विवेक और हित इसी में सुरक्षित है कि वह मनुष्य-जीवन की दुर्लभता और विशिष्टता को समझकर उसके एक-एक क्षण को सफल बनाए। (१,२)
- कंचन और कामिनी के त्यागी ही सच्चे त्यागी साधु हैं। (३)
- साधुओं की संगत जीवन के लिए वरदान होती है, सौभाग्य को जगानेवाली होती है। (४)
- जब-जब बुराई का पलड़ा भारी होता है, तब-तब संसार में दुःख, दैन्य और विपत्तियों का नृशंस आक्रमण होता है। (५)
- अच्छाई किसी के पास क्यों न हो, उसे ग्रहण करने में संकोच/परहेज नही होना चाहिए।
- धर्म जीवन को विकसित और पवित्र बनाने की निर्विकल्प प्रक्रिया है। आत्म-शांति और सुख का एकमात्र साधन है। उससे घृणा और परहेज करने का तात्पर्य है—जीवन-विकास और जीवन-पवित्रता से घृणा करना। आत्म-शाति और सुख से परहेज करना। ऐसा करके तो व्यक्ति स्वय अपने ही सौभाग्य की कब्र खोदता है। (६)
- किसी धर्म-सम्प्रदाय द्वारा दूसरे धर्म-सम्प्रदाय को गिराने का प्रयत्न किया जाना उसकी अनधिकार चेष्टा है और उसके अहिंसा के प्रति अनास्थाशील व अनुत्तरदायी होने का द्योतक है। (७,८)
- छिछले विरोध का प्रतिकार करना कीचड़ में पत्थर फेंकने के समान है। (९)
- विरोध को विनोद समझकर हंसते-हंसते सह जाने में ही मजा है, लाभ है। कोई इस सहने को व्यक्ति की कमजोरी समझ सकता है, पर मेरी दृष्टि में यह उसके आत्मबल की कसौटी है। (९)
- विरोध का सही उत्तर अपना कार्य ही होता है। विरोध करनेवाले अपना काम करते हैं, उनको रोक पाना हमारे हाथ की बात नही। और उन्हें रोकने की जरूरत भी क्या है। हम तो अपनी गति से सही दिशा मे कार्य करते रहे। हमारा कार्य स्वय उनके विरोध को प्रभावहीन बना देगा। (९)

- सही दिशा मे किया गया प्रयाण एक-न-एक दिन मंजिल पर अवश्य पहुचाता है। (१६)
- रास्ता ही जव गलत चुन लिया तो मंजिल कैसे मिल सकती है। मंजिल तक तो सही मार्ग ही पहुचा सकता है। (१९)
- साधु वनना आत्मा का अभ्युदय है। सौभाग्य का सूचक है। (१९)
- क्रांति का इतिहास युवा शक्ति का इतिहास है। (२०)
- प्रत्येक क्राति युवकों के सहयोग व असहयोग पर ही सफल व असफल होती रही है (२०)
- संगठित युवाशक्ति समाज के नव-निर्माण में निर्णायक भूमिका निभा सकती है। (२०)
- किसी भी सगठन का मौलिक आधार चरित्र-वल होता है। (२०)
- चरित्र-वल के आधार के विना प्रथम तो कोई संगठन खड़ा नही हो सकता और कदचित् खड़ा हो भी जाए तो वह जीवत नही हो सकता, वहुत दिनों तक टिक नही सकता। (२०)
- सगठन के साथ जितने अधिक नि स्वार्थी व्यक्ति जुड़ते हैं, वह अपने उद्देश्य मे उतना ही अधिक सफल हो पाता है। (२१)
- जो संगठन स्वार्थी लोगों से घिर जाता है, वह न केवल अपनी लक्ष्य-प्राप्ति मे असफल रहता है, वल्कि अपने अस्तित्व के लिए भी खतरा पैदा कर लेता है। (२१)
- जिस संगठन मे सारे ही नेता वन जाएं और अपनी-अपनी राग आलापने लगे, उस सगठन के भविष्य पर अन्धकार का आधिपत्य हो जाता है। (२१)
- जहा स्वय को अधिक महत्त्व देने की मनोवृत्ति होती है, वहा संगठन में छेद हुए विना रहता। (२२)
- शिक्षा जीवन के अभ्युदय की दिशा है। जीवन को सवारने की प्रक्रिया है। (२५)
- शिक्षा जैसे महान् तत्त्व का आजीविका जैसे अति सामान्य उद्देश्य के लिए उपयोग कर लोगो ने न केवल स्वयं के लिए घाटे का सौदा किया है, अपितु शिक्षा का भी अवमूल्यन किया है। (२५)
- आत्मा सभी प्रकार के वन्धनों से मुक्त होकर निर्वन्ध हो जाए, अपने शुद्ध स्वरूप को उपलब्ध हो जाए, परमात्मा वन जाए—यह परम अभ्युदय है। इस अभ्युदय को पाने के साथ ही शिक्षा कृतार्थ हो जाती है, सिद्धि मे वदल जाती है। (२५)

- पचास बड़े-बड़े पोथे पढ़कर भी यदि व्यक्ति ने यह नहीं सीखा कि उसे आचारनिष्ठ रहना चाहिए तो उसका ज्ञान भारभूत है। (२६)
- निर्मित विद्यार्थी ही अच्छे समाज का निर्माण कर सकते हैं, उन्नत राष्ट्र की नींव धर सकते है। (२६)
- संग्रह दुःख और अशाति का हेतु है। सुख और शाति का हेतु त्याग है, सतोष है। (२७)
- जो धर्म जीवन में नही रमता, उसकी व्यक्ति के लिए कोई कीमत नही है। (२९)
- स्वयं का सुधार ही समाज का सुधार है (३०)
- स्वयं का बदलाव ही दुनिया का बदलाव है। (३०)
- वास्तविक सुधार की प्रथम और अन्तिम मंजिल स्वय का सुधार ही है। (३०)
- जिसके जीवन में धर्म के फूल खिलते है, उसके जीवन मे सुधार और बदलाव की महक फूटती है। (३०)
- धर्ममय जीवन जीना ही जीने की सच्ची कला है। (३०)
- विद्या प्रकाश है। विद्या के आने के बाद अहंकार को टिकने के लिए कोई स्थान ही नही रहता। दीपक जलने के बाद अन्धकार को टिकने के लिए कहां अवकाश है ? (३०)
- सारे संसार के अहिसक और धार्मिक बनने की बात कर्णप्रिय और लुभावनी तो बहुत है, पर व्यावहारिक और सम्भव नही है। व्यावहारिक और सभव इतना ही है कि कुछ प्रतिशत लोग ही अहिंसक और धार्मिक बन सकेंगे। (३२)
- सफलता और असफलता की कसौटी परिणाम नही, बल्कि कार्य के प्रति हमारी निष्ठा, समर्पण और पुरुषार्थ-नियोजन है। (३३)
- जाने कैसे संयोग है कि चोर, डाकू, बदमाश लोग आपस में मिल जाते है, संगठित होकर अपना कार्य करते हैं, पर अहिसक और धार्मिक लोग मिलने मे कठिनाई महसूस करते है। (३३)
- अहिसा की पालना कर व्यक्ति दूसरो पर दया नही करता है, बल्कि स्वयं का ही हित साधता है। (३८)
- दया दूसरों पर नहीं, स्वयं अपने पर ही होती है। (३८)
- अहिसा की पालना कर व्यक्ति स्वयं का ही उपकार करता है। दूसरों का हित तो उसके परिणामस्वरूप सहजरूप से होता है। (३९)
- अहिसा और दया दोनो एक ही है। दया वही है, जहां अहिसा है। जहा हिसा है, वहां दया कदापि नही हो सकती। (३९)

- आध्यात्मिक सुख ही वास्तविक सुख है, शाश्वत सुख है, जबकि भौतिक सुख सुख नही, सुख का विभ्रम है, मरीचिका है। (४५)
- यदि मानवता समाप्त हो गई, नैतिक मूल्य विखडित हो गए तो फिर मनुष्य के पास रहेगा ही क्या ? अर्थ, सत्ता आदि से संपन्न होकर भी वह महादरिद्र हो जाएगा। सभी प्रकार की सम्पन्नताएं मिलकर भी उसे सच्चे मानव की प्रतिष्ठा प्रदान नही कर सकेगी। (४७)
- अपने सुख के लिए दूसरों के सुख को लूटना अन्याय है, पाप है। (४८)
- किसी के सुख का रक्षण करना किसी के वश की बात नही है, पर यह तो वश की बात है ही कि वह स्वयं किसी को दुःखी नही बनाएगा, उसके सुख को नही लूटेगा। (४८)
- दूसरे को सुख से वंचित करने के निमित्त व्यक्ति स्वयं ही सुख से वंचित होता है। दूसरे को पीड़ा पहुंचाकर व्यक्ति स्वयं अपने लिए ही पीड़ा पैदा करता है।
- सुधार का प्रारम्भ स्वयं से होना चाहिए। (४८)
- समाज-सुधार और राष्ट्र-सुधार की परिकल्पना व्यक्ति-सुधार के आधार पर ही साकार हो सकती है। (४८)
- आत्म-नियंत्रण समस्त सासारिक रोगो की एक रामबाण दवा है। सब समस्याओं का एक समाधान है। जीवन का नवनीत है। (५०)
- कोई भी भगवान समस्याओ के समाधान के लिए धरती पर नही आएगे। आपको ही समस्याओ का समाधान करना होगा। (५१)
- जो व्यक्ति स्वयं का सही-सही पहचान कर लेता है, वह बहुत कुछ प्राप्त कर लेता है। एक अपेक्षा से सब कुछ प्राप्त कर लेता है। (५२)
- जब तक व्यक्ति अपने स्वरूप से अनभिज्ञ रहता है, तब तक वह अपनी प्रतिष्ठा को प्राप्त नही कर सकता। (५२)
- अध्यात्मवाद स्वयं की पहचान का मार्ग है। (५२)
- त्यागी सन्तो का सच्चा स्वागत त्याग से ही हो सकता है। (५९)
- त्याग की प्रवृत्ति जितनी अधिक विकसित होती है, अध्यात्म उतना ही अधिक उजागर बनता है, भारतीय सस्कृति उतनी ही अधिक प्रतिष्ठित होती है। (५९)
- जन-जन की चारित्रिक चेतना को झकृत कर एक स्वस्थ एवं चरित्र-सम्पन्न समाज का निर्माण किया जा सकता है। (६०)

- युवक शक्ति के प्रतीक होते है । वे जिस कार्य को उठा लेते हैं, उसकी सफलता निश्चितप्राय: बन जाती है । (६१)
- सुख का स्रोत आत्मिक स्वतन्त्रता में है । जब तक यह स्वतन्त्रता प्राप्त नही हो जाती, तब तक व्यक्ति सुख को उपलब्ध नही हो सकता । (६४)
- कैसा आश्चर्य है कि आदमी को मांस-मदिरा आदि छोडने की प्रेरणा दी जाती है ! अरे ! प्रेरणा से तो हाथी-घोडे भी चलते हैं । मनुष्य जब विवेकशील प्राणी कहलाता है तो उसे अपनी गरिमा के अनुरूप स्वय भक्ष्य-अभक्ष्य का विवेक करना चाहिए । अभक्ष्य का परिहार करना चाहिए । (६४,६५)
- जब व्यक्ति स्वयं मरना नही चाहता, अपना अनिष्ट नही चाहता तो वह दूसरो को कष्ट पहुंचाने और मारने से परहेज क्यो नही रखता ? (६५)
- व्यक्ति जब स्वयं धोखा खाना नही चाहता, तो वह दूसरों को धोखा क्यों देता है ? (६५)
- सूत्र रूप में व्यक्ति यदि इस एक बात को हृदय से स्वीकार कर ले कि मैं परपीड़न नही करूंगा, तो वह सही अर्थ में मानव बन सकता है । (६५)
- आत्म-नियंत्रण धर्म की कसौटी है, प्रथम सूत्र है । जहां आत्म-नियंत्रण नही होता, वहा धर्म नही हो सकता । (६६)
- थोपा हुआ नियन्त्रण, नियन्त्रण नही, बन्धन होता है । (६६)
- आत्म-नियन्त्रण में थोपने की कोई स्थिति नही होती । व्यक्ति स्वेच्छा से स्वयं को अनुशासित करता है । यह नियंत्रण सुख का साधन है, शांति का मार्ग है, आत्म-उज्ज्वलता का हेतु है । (६६)
- सयम ही जीवन है । संयम ही सुख का साधन है । संयम ही विश्व-शाति का आधार है । संयम ही धर्म का मौलिक तत्त्व है । (६७)
- चारित्रिक संपन्नता ही सबसे बड़ी संपन्नता है । जीवन की सार्थकता और सफलता इस संपत्ति के अर्जन एवं सुरक्षा पर ही निर्भर है । (६८)
- वही उपासना उपादेय है, जो व्यक्ति की आत्म-पवित्रता मे प्रेरक और हेतुभूत बने । (६८)
- मैं उपासना को जितना महत्त्व देता हूं, उतना ही महत्त्व उसकी गुणात्मकता को भी देता हूं । केवल रूढि रूप में चलने वाली उपासना का मेरी दृष्टि मे कोई मूल्य नही है । (६८)

- चरित्रनिष्ठा की कमी किसी भी व्यक्ति की असफलता का सबसे प्रमुख कारण होती है। (६८)
- उपासना जीवन को आत्मोन्मुख बनाने की प्रक्रिया है। (६८)
- सच्चा त्यागी वही है, जो सर्व साधन-सामग्रियों के उपलब्ध होने पर भी स्वेच्छा से उन्हे ठुकराता है, उनकी तरफ से मुह मोड़ लेता है। (७०)
- आवश्यकताओ की पूर्ति हो सकती है, लालसा की नही। (७०)
- जहा व्यक्ति लालसा के भंवर मे फंस जाता है, वहां उसका जीवन दुःख और अशांति का घर बन जाता है। (७०)
- विश्व मे जितनी भी समस्याएं हैं, उनके मूल मे बढ़ती हुई लालसा है। (७१)
- आचार से पहले विचार का स्थान है। जब तक विचार का आधार नही बनता, तब तक आचार अधूरा रह जाता है। (७२)
- अर्थ मात्र जीवन चलाने का साधन है। इससे अधिक उसे महत्त्व या मूल्य देना ही विभिन्न प्रकार की आर्थिक समस्याओ को पैदा करना है। (७३)
- विचार आचार की पृष्ठभूमि है। हालांकि प्रत्येक विचार हर व्यक्ति के जीवन मे आचार बनकर उतरे, यह आवश्यक नही, पर यह सुनिश्चित है कि जो आचार बनता है, वह विचार का ही प्रतिबिंब होता है। (७४)
- हम स्वयं अपने भाग्य के निर्माता हैं, विधाता हैं। (७४)
- भाग्य हमारे पुरुषार्थ का परिणाम है और पुरुषार्थ करने मे हम स्वतंत्र हैं। (७४)
- हिंसा कभी भी और कही भी धर्म नही है। (७५)
- धर्म के लिए हिंसा करना अधर्म है। (७५)
- वर्णवाद और जातिवाद अतात्विक हैं। इनसे हीनता और अहंकार की भावनाएं पैदा होती हैं, पवित्रता नही। (७५)
- शांति धन और बल-प्रयोग से नही होती। शांति होती है संयम को जीवन में उतारने से। (७५)
- आवश्यकताओ के नियंत्रण की कला को सीखे बिना शांति प्राप्त नही हो सकती, समस्याए समाहित नही हो सकती। (७६)
- शिक्षा जीवन-विकास का मौलिक आधार है। (७७)
- पुरुप और नारी दोनो समाज-रचना के दो बराबर के आधार हैं। अगर दोनों सुशिक्षित एवं सुसस्कारित होंगे, तभी समाज का समुचित विकास हो सकेगा। (७७)

- समाज की गाड़ी स्त्री और पुरुष दोनों पहियों के समान रूप से ठीक होने से ही विकास की राह पर आगे बढ़ सकती है। (७७)
- सुशिक्षित एवं सुसस्कारित माताएं ही राष्ट्र के उज्ज्वल भविष्य का निर्माण कर सकेंगी। (७८)
- शिक्षा का मूलभूत उद्देश्य है—आत्मगुणो का विकास, जीवन का सुधार और पवित्रता। (७८)
- व्यक्ति स्वय अपने अच्छे-बुरे भाग्य का निर्माता है। ईश्वर न उसका बुरा करता है और न भला। अच्छी प्रवृत्ति अच्छे भाग्य का हेतु बनती है और बुरी प्रवृत्ति बुरे भाग्य का। (७८)
- अपरिग्रह सुख का सबसे बड़ा साधन है। (८३)
- अनेकांत का दर्शन जीवन की सुखद यात्रा के लिए राजपथ है। (९३)
- लोग धर्मस्थान मे जाकर और क्रियाकांड करके अपने-आपको धार्मिक मान लेते हैं। परन्तु धार्मिकता की सच्ची कसौटी व्यक्ति का चरित्र है। (९५)
- यदि व्यक्ति घर मे, दुकान मे, ऑफिस में नैतिक और प्रामाणिक नही रहता है, पडोसी के साथ सद्‌व्यवहार नही करता है तो वह सच्चा धार्मिक नही है। (९५)
- अध्यापक केवल अध्यापक ही नही होते, विद्यार्थियो के जीवन-निर्माता भी होते हैं। (९७)
- हिंसा किसी भी समस्या का समुचित समाधान नहीं है। (९९)
- सद्‌विचार और सदाचार ये दो ही ऐसे सूत्र हैं, जिनको स्वीकार कर निर्माण किया जा सकता है। (९९)
- शिक्षा-प्राप्ति का उद्देश्य बड़ी-बड़ी डिग्रिया और प्रमाण-पत्र प्राप्त करना नही है। उसका सही लक्ष्य है—आत्मोदय और जीवन-निर्माण। (१००)
- सयममय चर्या और सद्‌वृत्ति ही जीवन का सच्चा सौन्दर्य है। (१०९)
- जीवन की पवित्रता किसी धर्मग्रंथ या धर्मसंप्रदाय से संबंधित नही है। (१०१)
- जहां चरित्र का अभाव है, वहां विद्या भारभूत है। (१०१)
- लोग धर्म का सबध वाह्य क्रियाकांडों और धर्मस्थान मे जाने के साथ जोड़ते हैं, जबकि उसका सीधा सम्बन्ध जीवन की पवित्रता से है। (१०१)

- पवित्रता को साधने के लिए अपवित्र साधन उपयोगी नही हो सकता। वह तो पवित्र साधन से ही सध सकती है। (१०७)
- समाज की सुव्यवस्था एवं स्वास्थ्य के लिए यह नितात आवश्यक है कि समाजनीति धर्मनीति से अनुशासित हो। (१०८)
- अहिंसा और सत्य ये दो ऐसे तत्त्व है, जो जीवन मे सात्त्विकता और पवित्रता का सचार कर सकते हैं। (११०)
- सही अर्थ में धार्मिक वही है, जिसके जीवन मे अहिंसा उतरी है। (१११)
- व्यक्ति किसी भी धर्म-संप्रदाय से संवधित क्यो न हो, उसकी सत्क्रिया, उसका सत् आचरण बुरा कैसे हो सकता है ? (११५)
- यह सोचना चिन्तन का दारिद्रय ही है कि अमुक सम्प्रदाय मे आने से ही व्यक्ति की मुक्ति हो सकेगी। आत्मोत्थान का सम्बन्ध किसी सम्प्रदाय-विशेष मे आने से नही, अपितु सद्ज्ञान और सदाचरण से है। (११५)
- धर्म किसी संप्रदायविशेप की बपौती नही हो सकता। (११५)
- मैत्री भावना या अहिंसक वृत्ति से ही समस्याओं को समाधान की सही राह मिल सकती है। (११८)
- विद्यार्थीकाल सद्गुण और सद् योग्यता अर्जन का काल है। (११८)
- विद्यार्थीकाल जीवन का स्वर्णिम काल है। (११९)
- लक्ष्य की स्पष्टता लक्ष्य-संसिद्धि की प्राथमिक अपेक्षा है। (११९)
- सुसस्कारी और निर्मित जीवन ही दूसरो मे सुसंस्कार-वपन और निर्माण का आधार वन सकता है। (११९)
- सुख और शाति का एकमात्र मार्ग है—त्याग और सयम। (१२०)
- अध्यात्म के क्षेत्र मे व्यक्ति-व्यक्ति के वीच छोटे-वड़े, नौकर-मालिक, शत्रु-मित्र जैसे भेदो को कोई स्थान ही नही है। वहां तो सव एक ही भूमिका पर खड़े हैं। (१२७)
- खमत-खामणा तो महास्नान है। जो यह महास्नान कर लेता है, वह तरोताजा हो जाता है, निर्मल वन जाता है। (१२७)
- जीवन-शुद्धि के तत्त्व कही भी मिलें, किसी भी पुस्तक मे मिले, उन पर समदृष्टि से विचार करना अपने धर्म-सिद्धांतों के मडन करने का सही मार्ग है। (१२८)
- आत्म-शोधन, आत्म-निर्माण और जन-जागृति के कार्य मे प्रगति ही सही प्रगति है। वह प्रगति हमे नहीं चाहिए, जो व्यक्ति को अकर्मण्य वनाए, साधना के प्रतिकूल ले जाए। वास्तव में तो साधनाविमुख होकर की जानेवाली प्रगति प्रगति है ही नही, ह्रास है। (१२९)

- मैं भूल न होने का कोई दावा नही कर सकता, क्योंकि मैं कोई सिद्ध नही हूं, साधक हूं, अपूर्ण हूं। साधक की भूमिका में किसी से भी कोई भूल होना अस्वाभाविक बात नही है। (१३०)
- सुधार चाहे किसी भी स्तर पर क्यों न हो, वह सदा अच्छा ही है। (१३१)
- पर-सुधार से पूर्व स्वयं का सुधार आवश्यक ही नही, अनिवार्य भी है। स्वय से ही शुभ शुरुआत होनी चाहिए। (१३१)
- स्वय का सुधार करके ही व्यक्ति पर-सुधार की बात करने का अधिकारी बनता है। (१३१)
- ज्ञानरहित क्रिया अधी है, तो क्रियारहित ज्ञान पगु है। दोनो का सम्यक् योग होने से सम्यक् गति सम्भव है। (१३९)
- मैत्री का क्षेत्र इतना व्यापक है कि वहा 'किसके प्रति' का प्रश्न ही बेमानी है। सपूर्ण मनुष्य जाति ही नही, बल्कि समस्त प्राणी जगत् ही उसका क्षेत्र है। (१४०)
- जहा प्रमोद भाव का विकास होता है, वहां ईर्ष्या का दावानल नही सुलग सकता। दूसरे का गुण देखकर मन कुंद नहीं बन सकता। (१४०)
- जिसके मन मे क्रूरता है, व्यवहार मे निर्दयता है, वह भले मन्दिर जाए, माला और जाप करे, पर सच्चा धार्मिक नही है। (१४०)
- क्रूरता और निर्दयता के साथ धार्मिकता का कोई संबध नही है। दूर का भी सबध नहीं है। (१४०)
- अहिंसा समग्र सत्प्रवृत्तियो का प्रतिनिधि शब्द है। इस तत्त्व का समाज मे जितना अधिक विकास होता है, समाज का उतना ही हित है। (१४१)
- जब तक अहिंसा की प्रतिष्ठा नही होती, तब तक समस्याओ को समाधान का क्षितिज नही दिखाया जा सकता। (१४१)
- अहिंसा सच्चा विज्ञान है, जीवन-विकास का परम तत्त्व है। (१४१)
- अहिंसा और सर्वोदय का परस्पर निकट का संबंध है। अहिंसा नही तो सर्वोदय नही और सर्वोदय नही तो अहिंसा नही। (१४२)
- जन-जन में अहिंसा को प्रतिष्ठित करने का एकमात्र आधार हृदय-परिवर्तन है। (१४२)
- हृदय-परिवर्तन वह स्थिति है, जिसमे व्यक्ति का आत्मबल असाधारण रूप से जागृत हो जाता है। (१४२)

- जहां आत्मवल असाधारण रूप से जाग जाता है, वहां व्यक्ति वड़े-से-वड़े प्रलोभन, स्वार्थ और भय की स्थिति मे भी अपनी अहिंसा की टेक को नही छोडता। (१४१)
- सत्प्रवृत्ति ही मित्र है, दुष्प्रवृत्ति ही शत्रु। सत्प्रवृत्ति सुख की ओर ले जाती है तो दुष्प्रवृत्ति दु ख की ओर। दूसरे को अपने दु:ख-सुख का दाता मानना, मित्र या शत्रु समझना निरा भ्रम है। (१४४)
- दु ख का कारण हिंसा है। अहिंसा सुख और शांति का एकमात्र मंत्र है। इस मंत्र की आराधना करके ही व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और विश्व के स्तर पर शांति की प्राप्ति की जा सकती है। (१४५)
- आत्म-निर्मलता शाश्वत सुख और शाति का हेतु है। (१४६)
- जव तक जीवन मे सात्त्विकता, ईमानदारी, सदाचार, सद्भावना जैसे तत्त्वो का विकास नही होता, तव तक पुस्तकीय ज्ञान का कोई लाभ नही है, वल्कि भारभूत है।
- सच्चा ज्ञानी वही है, जो आचारवान् है, चरित्रसपन्न है। (१४८)
- चरित्र का विकास ही सवसे श्रेष्ठ विकास है। (१४८)
- यदि धर्म के ऊचे-ऊंचे आदर्श और सिद्धांत जीवन के व्यवहार और आचरण मे नही उतरते, तो उनके यशोगीत गाने से क्या लाभ ? पेट भोजन करने से भरता है, अच्छे-अच्छे खाद्य-पदार्थों के नाम गिनने से नही। (१४८)
- जव तक भोग-वृत्ति न्यून नही होती, तव तक न शोषण घटता है और न संग्रह। (१५१)
- व्रती वनने के वाद इच्छाए सीमित नही होती, वल्कि इच्छाए सीमित हो जाती है, तभी व्यक्ति व्रती वनता है। (१५१)
- भोग-विलास और अर्थ के संग्रह मे व्यक्ति के जीवन की सार्थकता नही है। जीवन की सार्थकता है संयम मे। सयम ही व्यक्ति को सुख और शाति का आस्वादन कराने मे सक्षम है। (१५२)
- हिंसा जीवन की किन्ही परिस्थितियो मे मजवूरी हो सकती है, पर वह जीवन का मूल्य नही है। जीवन का मूल्य अहिंसा है। (१५३)
- शुद्ध विचार के विना आचार शुद्ध नही वनता। (१५६)
- संयम का लगाव न गरीवी से है, न अमीरी से। इच्छाओ पर विजय हो—यही उसका ध्येय है। (१५६,१५७)
- माना कि अपना घर साफ-सुथरा है, पर उसके आस-पास मे यदि गन्दगी है तो क्या उसकी वदवू आपके घर मे नही आयेगी ? वह आयेगी ही। उसे नही आने देना है तो आस-पास की गन्दगी को भी साफ करना होगा। (१६०)

० आवश्यकता की निस्सीमता घोर अपवित्रता लाती है। (१६५,१६६)

० त्याग, संयम और चरित्र भारतीय लोगो की मूल सम्पत्ति है। (१६७)

० धर्म व्यक्ति के लिए भोजन, पानी और श्वास से ज्यादा आवश्यक है। धर्म जीवन का परम विज्ञान है। जीवन जीने की कला है। जीवन के सुख और शांति का एकमात्र आधार है। जीवन की पवित्रता का मूल मन्त्र है। ऐसी स्थिति मे कोई भी व्यक्ति वास्तव मे उससे नफरत कैसे कर सकता है। उससे नफरत करने का अर्थ होगा—जीवन से नफरत करना, जीवन की शांति से नफरत करना, जीवन की पवित्रता से नफरत करना। (१६७,१६८)

० जो स्वयं अभय वनना चाहता है, उसे दूसरे को भी अभय करना आवश्यक है। (१६९)

० दूसरे की शांति लूटकर अगर कोई व्यक्ति स्वयं शांति पाना चाहता है, तो उसकी चाह कभी फल नही सकती। (१६९)

० सपनों की दुनिया मे जीकर भी जो सपनों का नही वनता, वही वास्तविक मानव है। (१७२)

० शांति का मार्ग तो मन की शुद्धि है, आत्म-संयम है, चरित्र-विकास है। भौतिक विकास और शस्त्रास्त्रो के भण्डर से उसका दूर का भी सम्वन्ध नही है। वल्कि ये तो और अधिक अशांति पैदा करते हैं। (१७२)

० व्यक्ति-विकास ही विकास का सही आधार है, विकास की सही प्रक्रिया है। व्यक्ति-व्यक्ति के विकास से ही समाज और राष्ट्र का विकास सम्भव है। (१७३)

० जीवन का रहस्य समझने के लिए तर्क की अपेक्षा अपनी अनुभूति अधिक आवश्यक है। अपनी अनुभूति एकाग्रता से मिलती है। मन की एकाग्रता प्रवृत्ति की निवृत्ति से मिलती है (१७६)

० जीवन का नियम है—आत्मानुशासन—स्वयं पर स्वय का नियंत्रण। (१७६)

० पदार्थ जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक होते हैं, किन्तु उनका आवश्यकता से अधिक संग्रह अत्यन्त दुःखदायी होता है, खतरनाक होता है। इससे जीवन का सात्त्विक आनन्द दव जाता है। (१७६)

९ आंतरिक गुणों का विकास ही संस्कृति का सर्वोच्च पक्ष है। (१७६)

० केवल दर्शन की महानता से कोई महान् नही वनता। महानता महान् दर्शन के महान् सिद्धांतों को जीवन के व्यवहार और आचरण मे ढालने से प्राप्त होती है। (१७४)

- चरित्र ही मानव की मूल पूजी है। यदि उसने वह खो दी, तो मानना चाहिए कि उसने सर्वस्व खो दिया। वह विलकुल खाली हो गया। उसके जीवन की कोई सार्थकता शेष नही रही। (१७९)
- प्रकृति को छोड विकृति में जाना दु ख का हेतु है, अधर्म है। (१८२)
- विवेक-भ्रष्ट होने पर मनुष्य का शतमुखी पतन होता है। (१८५)
- पारस्परिक विश्वास सचाई पर आश्रित है। विश्वास आपसी व्यवहार का मूल है। (१८६)
- आत्म-विकास की पगडंडी पर चलने वालो के लिए प्रार्थना एक पावन पाथेय है, सवल है। (१८८)
- शिक्षा का मुख्य लक्ष्य तो जीवन को सयमित, सुशासित, व्यवस्थित एवं नियमित वनाना है। ऐसा होने से ही शिक्षा की सार्थकता है। (१९०)
- जीवन में जितनी कृत्रिमता आयेगी, वह उतना ही वोझिल वनेगा। भले कोई उसे विकास कहे, पर वास्तव मे वोझिल जीवन कभी सुखी नहीं हो सकता। (१९४,१९५)
- यदि व्यक्ति आत्म-निष्ठा और मनोयोगपूर्वक वुराइयो से वचने का दृढ़ संकल्प कर ले तो प्रतिकूल वातावरण और परिस्थितियां भी उसका कुछ नही विगाड़ सकती। (१९७)
- जो धर्म मानव-मानव को परस्पर लड़ाता है, विद्वेष और वैमनस्य फैलाता है, उसे धर्म कौन कहेगा ? किस वेहूदे आदमी ने उसका नाम 'धर्म' रख दिया ? वह तो मूर्तिमान पाप है, अधर्म है, अन्याय है। वह तो धर्म की विडम्वना है, धर्म के नाम पर कलंक का काला टीका है। (१९८)
- आदर्श तक सवकी पहुच नही हो सकती, पर उसको लक्ष्य वनाकर उस दिशा मे प्रयाण तो हर कोई कर सकता है। यह प्रयाण उसके जीवन को क्रमश: निखार देनेवाला होता है। (२००)